

प्रकाशक : बसन्त श्री. सातवलेकर, बी. ए.

स्वाध्याय मंडल, ज्ञानन्दाश्रम, पारडी (सुरत)

चतुर्थवार

संवत् १९०६, सन १९४९

मुद्रक व श्री सातवलेकर, बी. ए.

भारत मुद्रणालय, ज्ञानन्दाश्रम, पारडी (सुरत)

ईशोपनिषद्

यजुर्वेद अध्याय चालीसवीं

सूक्तिका



(१) यजुर्वेदकी संहितायें

यजुर्वेदकी चार संहितायें इस समय उपलब्ध हैं । (१) काण्व (१) मार्क्येय (१) शतसमेपी (१) मैत्रायणी (४) आड्य (५) तैत्तिरीय (१) कपिष्ठल आदि इनमें काण्व और मार्क्येय काण्वके संहितायें अति प्राचीन हैं वे अथर्ववेद का अथर्ववेद " यजुर्वेद विद्या है । यही वेदका अंतिम अध्याय होनेसे वेदका अंतिम भाग अर्थात् " वेदका अंत " होनेसे इस काण्वज्ञान विद्यार्थी " वेदार्थ " (यजुर्वेद) कहते हैं ।

काण्व-संहिताका आ अंतिम ४ वीं अध्याय है यही " ईशोपनिषद् " नामके इस समय प्रसिद्ध है । मार्क्येय काण्वके संहितायें वे अथर्ववेदके अंत वेदका १० हैं, और काण्व काण्वके संहितायें १८ अंत हैं, इसके अतिरिक्त कुछ पद्यभेद भी हैं । दोनों पद्य इस पुराणमें दिये हैं यजुर्वेद का अंत पद्यभेद पद्यभेदका अंत पद्य अंत का अंत ।

(३) इस सूक्तकी देवता ।

यिस सूक्त बनना यंत्रमें लिख्य वर्ण्य होता है उस सूक्त यिस यंत्रकी वह देवता समझी जाती है । यिनी यिनी सूक्तमें देवता-वाचक एकही केन्द्र प्रारम्भसे अंततक प्रयुक्त हुना होता है परंतु कई ऐसे सूक्त हैं कि, यिसमें एकही देवताके वाचक अनेक नाम उस सूक्तके अनेक मंत्रोंमें प्रयुक्त होती हैं । यिसमें देवताका एकही नाम प्रयुक्त होता है, उस सूक्तकी देवताके विषयमें ज्ञेयही नहीं होता; ननु यिस सूक्तमें विभिन्न नामोंका उपयोग होता है, उस सूक्तकी देवताके विषय करनेमें संशय उत्पन्न होता है । इसी हेतुसे इस अध्याय की देवताके विषयमें कई विज्ञानियोंसे ज्ञेय हुना है, इसलिये इस सूक्तकी देवताका क्या विचार करेंगे । देखिए, देवता विषयकी रीति यह है कि प्रथम प्रत्येक मंत्रकी देवता—सूक्त सम्म देवता जानिये कि—

मंत्र	देवतासूचक	परिचय
(वाचककेही संदिता)	सम्भ	
१ ईंका वाचक	ईंका	ईंका
२ इर्वेकेके	"	
३ वाचकी नाम		
४ अनेकदेव	एवं, एतद	
५ एवेकति	एत	१
६ वाच्य वर्णमि	वाच्य	वाच्य
७ अनेकमन्त्र	"	
८ वाचकवाच	वाच, वाचि	वाचि
९ वाचक वाच		
१० वाचकवाच	वाच	वाच
११ वाचक वाच	वाचि	वाचि

१७ हिरण्मयेन	सत्य	सत्य
	पुरुषः	पुरुष
	ब्रह्म	ब्रह्म

(काण्व-संहिता)

१६ पूषणैकर्षे	पूषा	पूषा
	यम	यम

देवतावाचक जो शब्द हैं, उनमें सर्वनाम, विशेषण आदि छोड़कर जो मुख्य शब्द हैं, वे “ईश, आत्मा, कवि, ओम्, अग्नि, सत्य, पुरुष, ब्रह्म, पूषा, यम” ये हैं । वैदिक रीतिसे ये सब शब्द एकही देवताके सूचक हैं । “ ब्रह्म, आत्मा, ओं, पुरुष, सत्य ” इन शब्दोंके विषयमें किसीको शंकाही नहीं हो सकती । जो कोई शंका है, वह “ पूषा, यम, अग्नि ” इत्यादि शब्दोंके विषयमें है । इसलिये इसका विशेष विचार करना चाहिये ।

(४) अनेक नामोंसे एक तत्त्वका वर्णन ।

यदि यह सूक्त “ आत्म-ज्ञान ” का प्रतिपादक है, तो यह बात स्वयही सिद्ध होगी कि “ एकही आत्माके सब नाम हैं । ” यह अध्यात्मशास्त्रकी कल्पना माननेसे विभिन्न देवताओंके नामोंसे एकही “आत्मा” का प्रतिपादन होता है, वेदकी भी यही कल्पना है--

इन्द्रं मित्र वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एक सवित्रा बहुधा चदन्त्याग्निं यम मातरिश्वानमाहु ॥

(ऋ० १।१६।४६)

“एकही सद्बस्तुका ज्ञानी जन बहुत प्रकार वर्णन करते हैं । उसी एकको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं । ” इस मन्त्रमें “ अग्नि, यम ” आदि शब्द हैं जोकि ईशोपनिषद्में तथा वा० य० अ० ४० में आगये हैं । इस मन्त्रसे यह बात सिद्ध होती है कि, नामोंके भेदसे देवता भेद नहीं होता । यदि यह ऋग्वेदका कथन माना जायगा, तो बहुतसे विवाद मिट

“ वह आत्मा हम सबका पिता, जनक और वधु है । वह सब भुवनों और म्थानोंको यथावत् जानता है । (य देवानां नामध) वह सब देवोंके नाम अपने लिये धारण करता है । और वह केवल एकही है । उस प्रश्न करने-योग्य आत्माके आधारसे सब अन्य भुवन अर्थात् पदार्थ रहते हैं । ” इस वर्णनमें निम्न वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

यः एक एव, देवाना नाम-धः ।

“ जो एक ही, देवोंके नाम धारण करता है । ”

“ अग्नि ” आदि देवताओंके नाम उसीका वर्णन करते हैं, इसलिये ये नाम उसके वाचक होते हैं । यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेदमें हैं । विशेषतः जिस यजुर्वेदके ४० वें अध्यायका हम विचार कर रहे हैं, उसीके १७ वे अध्यायमें यह मन्त्र है । उसलिये इस अंतर्गत प्रमाणसे भी “ अग्नि ” आदि नाम उस आत्माके वाचक सिद्ध होते हैं । आत्माध्यायमें सगृहीत होनेसे अग्नि आदि पदोंका आत्मा अर्थ स्पष्ट ही था, परन्तु इस अंतर्गत प्रमाणसे वही बात पुनः सिद्ध हो गई है । और देखिये—

त्वमग्ने इन्द्रो वृषभ सतामसि, त्व विष्णुरुरुगायो नमस्यः ।

त्व ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते ० ॥ ३ ॥ त्वमग्ने राजा वरुणो

धृतव्रतस्त्व मित्रो भवासि दस्म इन्द्र्य । त्वमर्यमा सत्पति ० ॥ ४ ॥

त्वमग्ने त्वष्टा ० ॥ ५ ॥ त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिव ॥ ६ ॥

(ऋ. ३।१)

“ हे अग्ने ! तूही इन्द्र है, सद्रस्तुओंमें बलवान् तू ही है, नमनके लिये योग्य विष्णु है, तू ही ब्रह्मा है ॥ हे अग्ने ! तू वरुण राजा है और स्तुत्य मित्र तूही होता है, तूही अर्यमा है ॥ तू त्वष्टा है, तू रुद्र है । ” इत्यादि मन्त्रोंमें अग्नि ही अन्य देव है, ” यह बात स्पष्ट कही है । इसी प्रकार अन्य देवताओंके सूक्तोंमें भी वे अग्नि ही हैं ऐसा भी वर्णन है । इस संक्षेप वर्णनका तात्पर्य ही यह है कि सब देवताओंके नाम एक ही “ आत्मतत्त्व ” का वर्णन करते हैं । तैयों—

अग्नावग्निश्चराति प्रविष्ट ॥ (वा य ५।४, अथर्व ४।३९।९)

ऋचं वाच पचाध्यायी दध्यङ् आथर्वणो ददर्श ।

(यजु सर्वाङ्गमणी ४।५)

यजु अ ३६ से ४० तक के पांच ही अध्यायोंका “दध्यङ् अथर्वो” ऋषि कहा है । यही भाव शतपथमें भी है—

दध्यङ् ह वा आथर्वण एतं शुक्रमेत यज्ञ विदांचकार ।

(शुक्ल प्रा १४।१।१।२०)

इस प्रकार यजुर्वेदके अंतिम पचाध्यायीका “दध्यङ् अथर्वो” ऋषि है । यही भाव अन्य भाष्यकार स्वीकार करते हैं—

(१) आत्मदेवत्य अनुष्टुप्छन्दस्कोऽध्यायो दधीचाथर्वणेन दृष्टः ।

(महीधरभाष्य)

(२) ईशा वास्य । तिष्ठोऽनुष्टुभः । दध्यङ् आथर्वण ऋषिः ।

(उवट भाष्य)

“ईशावास्य आदि अध्यायका दध्यङ् अथर्वो ऋषि है ।” इस अथर्वीका ब्रह्मवर्णनके साथ वेदमें सबध है । प्रत्यक्ष अथर्ववेदका नाम ही “ब्रह्मवेद” है । देखिये—

“ब्रह्मवेद”

श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये सवभूव ॥

(गो प्रा १।९)

एतद्वै भूयिष्ठ ब्रह्म यद् भृग्वगिरस । येऽङ्गिरसः स रस । ये
ऽथर्षाणस्तद्भेषजम् । यद् भेषज तदमृतम् । यदमृत तद् ब्रह्म ।

(गो प्रा ३।४)

“चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदो ब्रह्मवेदः ।”

(गो प्रा २।१६)

“चार वेद हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और ब्रह्मवेद” इसमें अथर्ववेदका नाम “ब्रह्मवेद” आया है । अथर्ववेदमें आत्मा और ब्रह्मके सूक्त बहुतही

है। जगत् अवर्ण्य कश्चित् कदा 'अवर्ण्ये' संज्ञा एव वैश्वे अवर्ण्य है। इत्यस्मिन् श्री इत्यस्य भाग्यप्रदेशे अवर्ण्यकः है। इति प्रत्ययविचारके एव संज्ञा रक्षणेनाह "अवर्ण्य" इति अविवक्षितं है इत्यस्मिन् दोषात् एव भाग्यप्रदेशे विन्त्य प्रकारः ही है-

तद्यदवर्ण्यद्वयार्थोक्तिर्न जन्मिच्छेति तद्यदवर्ण्यप्रवत् ।

(वे. भा. १।४)

"इत्येव अवर्ण्य इत्यस्मिन् कदा कदा कि, इत्ये (अव कर्माद् स्तं अवर्ण्यकः) इत्येव कदा ही ईह एता कदा । "अवर्ण्य-अवर्ण्य" एता कदावेते अवर्ण्य कदा एता । इत्यस्य तात्पर्यं यह है कि परमेश्वरको कश्चित् कदा इत्येव ही कदा कदा अंतर इत्येव ही एता विज्ञेय कदा यह अवर्ण्य कदावे प्रसिद्ध हुआ । इस प्रकार अवर्ण्य कदावे कदावे विज्ञेय कर रहा है कि, इत्यस्य तात्पर्यविचारके एव संज्ञा है । तथा-

अवर्ण्यकः अवर्ण्यकः । अवर्ण्यकः अवर्ण्यकः ।

(वे. भा. १।४।२।५)

"अवर्ण्य-अवर्ण्य" कदावे है। अवर्ण्य-अवर्ण्य कदावे है इत्यस्मिन् "अव-अवर्ण्य" कदावे पति-रहित है। दोषात्कदा कदावेते पदात् को अवर्ण्य कदावे एवमता अवर्ण्यकः किन्ही ही है, इत्यस्य कदावे यह कदावे है । स्मिच्छति, स्मिच्छति कदावेते दोषो यह इत्यस्य भाग्य है। इति प्रत्ययके दोषात् प्रत्ययविचारके एव संज्ञा होना स्पष्ट ही है। इत्यस्मिन् इति अवर्ण्यकः अवर्ण्य "अविवक्षितं" कदावे है कि इति अवर्ण्यकः प्रत्ययविचार कदावे भाग्य-विचार हुआ है; तथा इत्येव कदावे हुए "अवि" कदावे एता, पुनः "अवि" कदावे इति प्रत्ययके भाग्यविचारके अवर्ण्य प्रत्ययक ही विचारते हैं।

इत्यस्य विचार और अविवक्षित विचार कदावे "अवि" कदावे कदावे कदावे भाग्य विचारक ही इति अवर्ण्यकः होना स्पष्ट है, यह कदावे कि हो पर्व ।

(६) ईश उपनिषद्का महत्त्व ।

सब अन्य उपनिषद् ग्राह्य और आरण्यके ग्रंथोंमें हैं । यह एक ही उपनिषद् ऐसा है कि ओं मंत्र संहितामें है । ग्राह्यों और आरण्यकोंकी अपेक्षा मंत्र संहिताका मान और प्रामाण्य विशेष होनेसे ही इस ईशोपनिषद्की पहिली स्थान प्राप्त हुआ है । यही एक “ मन्त्रोपनिषद् ” है । और इसीके आधारपर अन्य उपनिषदोंका रचना हुई है । जो ज्ञान अन्य उपनिषदोंमें है वह इसमें है, परंतु जितना उपदेश इसमें है उतना अन्य उपनिषदोंमें है ऐसा नहीं कहा जा सकता । अन्य उपनिषदोंकी व्याख्या करनेके प्रसंगमें इसका सप्रमाण विचार किया जायगा, और वहाही जिस उपनिषद्का इसके किम मन्त्रमें कैसा संबंध है, यह बताया जायगा । उदाहरणके लिये यहां इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि—

(१) केन उपनिषद्- “ नैनहेवा आप्नुवन् ” इस ईशोपनिषद्के मन्त्रभाग (वा० य० ४०।४, ईश उ० ८) की व्याख्या है । इसका विशेष स्पष्टाकरण “ केन उपनिषद् ” की भूमिकामें किया गया है ।

(२) बृहदारण्यक उपनिषद् ईशोपनिषद्की दीवती टीकाही है । सपूर्ण यजुर्वेदके ४० अध्यायोंपर “ दीवती टीका ” ही शतपथ ब्राह्मणके १४ कांड हैं । इससे स्पष्ट है कि, यजुर्वेदके अंतिम ४० वे अध्यायकी टीका १४ वे कांडमें है । १८ वाँ कांडही बृहदारण्यक है । जो पाठक दोनोंकी परस्पर तुलना करेंगे, उनको यह विषय स्वयं स्पष्ट हो जायगा ।

इस प्रकार इस य० अ० ४० का अर्थात् ईशोपनिषद्का सपूर्ण आत्मविद्याके प्रथमभारमें अत्यंत महत्त्व है । ऐसा समझीये कि यह अध्याय सब आत्मविद्याके प्रथममें शिरस्थानमें अथवा मुख्य स्थानमें विराजता है । इसी कारण सब उपनिषदोंमें भी इसको प्रथम स्थानपर गिनते हैं ।

(७) इस अध्यायकी रचना ।

इस उपनिषद्की रचना बड़ी विचार करनेयोग्य और बड़ी विवेक्षण है ।

इसमें चार अधिकार हैं । जो कुछ अन्धकारनिवर्तक प्रकृत्य है, वह तब स्वयंसे और साधक स्वयंसे प्रथम अधिकारमें ही कहा जाता है, उपरान्त के अधिकारोंमें इन उपरि लोकाधी विस्तार प्रत्यक्ष स्वीकरण है । इसके अधिकार निम्न प्रकार हैं—

- (१) प्रथम अधिकार—मंत्र १ से १ मंत्रकी समाप्ति तक है ।
- (२) द्वितीय अधिकार—मंत्र ४ से ७ मंत्रकी समाप्ति तक है ।
- (३) तृतीय अधिकार—मंत्र ८ से १४ मंत्रकी समाप्ति तक है ।
- (४) चतुर्थ अधिकार—मंत्र १५ से अन्त्य समाप्ति तक है ।

प्रत्येक अधिकार समान्य होकर ही रहना उक्त अधिकारमें वर्तन होने हुए ज्ञानकी प्रकृति कदापि भिन्न नहीं है । प्रत्येक अधिकारमें और सूक्तमें ही उक्त अधिकार अन्धकार की व्याख्या के बिना व्यर्थ है । यदि अधिकार के ज्ञानका बोझा स्वयं प्रकृत्य है—

अन्धकाराधिकारमें ईशा " इस एककाले " अनेक एक है । इसका उपरि के बिना है, परंतु यही आतिशयोक्त एककाल मात्रसे एककाल होने पर ही अनेक ईश होने की प्रकृति व्यक्त हो सकती है । यैशा मनुष्य " कदापि (१) एक मनुष्य कदा (२) मनुष्यकी प्राप्ति ऐसे दोनों कार्य संभवनीय है । इस एककाली प्रकृति के बिना द्वितीय अधिकार का उक्त अन्ध अधिकारों का प्रारम्भ है । ऐश्वर्य—

प्रथम अधिकार— ईशा " ईश एक है ।

द्वितीय अधिकार— " एक " यह एक ही है ।

" अनेक " यह भी प्रकृत्य ।

तृतीय अधिकार— " एक " यह प्रकृत्य प्रकृत्य है ।

चतुर्थ अधिकार— " एक पर्याप्त " यह प्रकृत्य है ।

" परिशु " कदापि है ।

" स्वयं-शु " स्वयं अनेक प्रकृत्य है ।

चतुर्थ अधिकार— " एक " यह प्रकृत्य है ।

इस प्रकार प्रथम अधिकारके कथनका अधिक स्पष्टीकरण अन्य अधिकारोंमें है । इसका प्रथम निम्न प्रश्नोत्तरसे स्पष्ट होगा—

प्रश्न—इस जगत्का स्वामी कौन है ?

उत्तर—इसका स्वामी ईश्वर है और वह सर्वत्र है । (ईश.)

प्र० — ईश्वर कितने हैं ?

उ० — ईश्वर एकही है, अनेक नहीं हैं । (एक)

प्र० — यह यही आ सकता है ?

उ० — यह सर्वत्र है, इसलिये एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेकी उसको आवश्यकता नहीं है । (अनेजत्)

प्र० — वह कबसे है ?

उ० — वह हमसे प्राचीन है, उसके पूर्ण कोई भी नहीं है ।

(एवं)

प्र० — वह कहाँ रहता है ?

उ० — वह सर्वत्र पैला है । (स पर्यगात्) कोई स्थान उसमें रहित नहीं है । वह सबसे श्रेष्ठ है । (परिभूः)

प्र० — वह किस आधारसे रहता है ?

उ० — वह अपनीही शक्तिसे रहता है । (स्वयभूः)
उसके लिये किसीके आधारकी आवश्यकताही नहीं है ।

प्र० — क्या वह भविष्यमें भी रहेगा ?

उ० — वह त्रिकालाबाधित है । (सत्य) वह सर्वदा एक जैसाही रहता है ।

इस प्रकार एकही बातका विस्तार क्रमशः इन अधिकारोंमें हुआ है । प्रत्येक पद पदका परस्पर संबन्ध देखनेसे और सूक्ष्म-विचारके साथ उनका आशय समझनेमें बड़ाही आनन्द प्राप्त हो सकता है, और अध्यात्म विद्याके गूढ़

विद्यार्थ विचार ही करते हैं । ऐसा "एक ईश्वर" के विषयमें प्रथम बारिफार-
से वर्णित राष्ट्रीय स्वाधीनता कापेके व्यक्तिगत्तोंमें हुआ है । वही स्वर अन्धकार
विषयोंमें भी है । इसलिये पढ़क इस दृष्टिसे इस अन्धकार का अन्धाधु नीर
नश्य करे ।

(८) साम्यकारोंका कथन ।

हरे अन्धकारोंने इस अन्धकारके विषयमें अनास्तितिक राष्ट्रीय प्रकाश किया
है, ऐसा—

(१) श्री संकराचार्यजी करते हैं कि " ईश्वरात्मविज्ञानको संश्रम
कर्मस्वात्मविबुद्धता लेता अन्धविद्वत्पणको बाधाम्बन्धनकरवाता ।
बाधाल्पन न अल्पता । अन्धत्वापानिदलैक्यमिच्छताकटीककर्मकर्तृ
त्वारिककमावत् । तत्त्व कर्मका विवक्षते । इति कुछ एवैवं कर्मस्व-
विनिरोधः । (ईश्वर-आत्म)

" ईश्वरात्म विद्वि संश्रम कर्मोंमें विविध कुछ नहीं हुए हैं क्योंकि इस
अर्थोंमें अल्पता अल्प कर्म है । अल्पता कुछ, अनास्तितिक इस, किन्तु
अकटीक कर्मस्वात्म अन्ध विद्वत्पण कुछ है, ऐसा जो कर्म इस अन्धकारमें
है, यह कर्म विरोधी है, इसलिये इस मंत्रीका विविध कर्मों में न होना ही
कुछ है । "

जी पूज्य संकराचार्यजी को यह कुछ अनास्तितिक प्रकाश नहीं है, वही
बाध नहीं करता है । यदि अल्पता कर्म होवे तो मंत्रीका विविध कर्मों
नहीं होना चाहिए तो कुछ न १२ के अर्थोंमें एवही अल्पता कर्म है
तबहि " कर्मस्वात्म " नामक अन्धकारमें इस अल्पता विविध विद्वि अन्ध
है । अल्पता को कुछ, विचार, एक आदि कुछ इस अल्पतामें कर्म
होने लगे हैं, वही वही अल्पतामें हैं । विद्वि—

सर्वमेवमकारण ।

ईश्वोपनिषद् ।

(अ. १२)

(अ. ४)

सर्व (मंत्र १)

सर्व (मंत्र ८)

अमृत (म १०) अपीपविद्ध (११)
 तत् (म ११) एक (म १४)
 ऋत (म १२) (सत्य) नित्य (म १५)
 न प्रतिमा (म ३) अकाय (म ८)
 विभू (म ८१) पर्यगात् (११)

इस प्रकार जो गुण आत्माके वर्णन रूपमें दिये गये हैं वे सब अध्याय ३२ में हैं, तथापि अध्याय ३२ कर्ममें विनियुक्त है और अध्याय ४० नहीं है। इसलिये उक्त हेतु ठीक नहीं है।

इस प्रकारके कथनसे जो ब्रूया दोषारोप वेदके सहिताओंपर आता था, और जिससे अन्य मंत्रोंमें आत्माका वर्णन नहीं है, ऐसा जो आशय व्यक्त होता था, उसी बातका खंडन यहां किया है।

मंत्रोंको जबरदस्ती किसी कर्ममें विनियुक्त करनेसे ही केवल उनमें जो आत्मविद्या है, वह दूर नहीं हो सकती। इसका उत्तम उदाहरण यजु अ० ३२ है। इसकी व्याख्या (‘एक ईश्वर उपासना’ नामसे) स्वतंत्र रूपसे छपी है। पाठक इस स्थानपर उसको अवश्य देखें और अनुभव करें, कि उसमें भी कितनी आत्मविद्या है। अस्तु। यहां कहना इतनाही है कि, वेदकी सहिताओंका मुख्य वक्तव्य “आत्माका वर्णन” ही है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति ।

‘सब वेद उस आत्माका वर्णन करते हैं।’ यही सत्य है,

इस प्रकार भाष्यकारोंने अपने पूव ग्रहणी स्थान स्थानपर बताये हैं। इसका और एक उदाहरण देखिये—

(९) वेदान्तके अध्ययनका काल ।

इस अध्यायके अध्ययनके कालके विषयमें लिखते लिखते श्री० उषट और महीधर ये दोनों आचार्य लिखते हैं—

५५ समस्तं कर्मचरं इदानीं ज्ञानचरं प्रवृत्तये ॥ १॥

२२ । दत्तकजात्येव श्रुतिः । अतिथिः पुत्रं वा
कर्माद्यजातिमि संस्तुतैः संस्तुयन्तीति, अर्वात्तवेद
अतासिदुत्तरं ॥ विष्णुस्मृत्यु ४०० (ब्रह्मसंहिता अ. ४ । १)

“ एषोऽयमप्यारिष्टकालः । नर्कस्थं निरूपितम् । इदानीं
कर्माचारमनुष्ठानं कर्तव्यं इति ज्ञानमप्येषोऽयम्
अप्यनेन निरूप्यते । ईशा वास्तुमिजादि संज्ञायां
कर्मसु निमित्तोपेयं नास्ति । तेषां ह्युद्भात्यैकत्वाच्च-
निरूप्याकारित्वकर्मकृतत्वाच्चसमावासात्प्रतिपत्तत्वात् ।
तस्य कर्मणा निरूप्यते । — ईशा वास्तं अप्यनेन
इतीवाचक्येन दृष्टः । कर्माचारमप्यारिष्टकालसूतं कर्माचरेण
निरूपितम्.. किम्यं पुनर्वा अपि निरूपितम् ।

(पञ्चविंशोऽध्यायः)

(१) मनु. अ. १९ तक धर्मशास्त्र समाप्त हुआ अब शास्त्रार्थकर्म प्रारंभ होता है। १९ ॥

“ (१) दण्ड आदेश कबि कबलै पुत्र अथवा कियन्तै हउ आश्रयका
अपदेश करछा है ओ किय अकला पुत्र बर्माबासदरि संस्कारयेत सुखदण्ड है,
बिछो बैरघ आभयन करछत भिदा है और पुत्र अलग भिये हैं ॥ ”

[illegible]

इस ईश उपनिषद्का अध्ययन कर सकता है। अर्थात् ब्रह्मविद्याके अध्ययनका प्रारम्भ करनेका समय पुत्र उत्पन्न होनेके पश्चात् है। परन्तु यही बड़ा भारी भ्रम है। अथर्ववेदमें ब्रह्म साक्षात्कारका फल वर्णन किया है, वह यहाँ देखिये—

यो वै ता ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।

तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥

न वै त चक्षुर्जहाति न प्राणो जरस पुरा ।

पुर यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥

(अथर्व १० । २)

“ जो अमृतमय ब्रह्मपुरीको जानता है, उसको ब्रह्म और अन्य देव चक्षुः, प्राण और प्रजा देते हैं ॥ जो इस ब्रह्मपुरीको जानता है, उसके चक्षुः और प्राण वृद्धावस्थाके पूर्व उसको नहीं छोड़ते । ”

इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, ब्रह्मज्ञान होनेसे उस ब्रह्मज्ञानीको सुदृढ इन्द्रिय, दीर्घ आयुष्य और सुप्रजानिर्माणकी शक्ति प्राप्त होती है। यह ब्रह्मज्ञानका फल है। वेदातशास्त्रके अनेक लाभोंमें “ सुप्रजानिर्माण-शक्तिकी प्राप्ति ” यह भी एक लाभ है। यदि यह सत्य है तो गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेके पूर्व ही ब्रह्मविद्याका अध्ययन होना चाहिये, और उसको ब्रह्मपुरीका पता लगना चाहिये। परन्तु उक्त आचार्य इस वैदिक सिद्धांतके विरुद्ध ही कह रहे हैं, कि पुत्रोत्पत्तिके पश्चात् यह उपनिषद् पढ़ें, इसलिये उनका मत चिंतनीय ही है। आत्मज्ञानसे गृहस्थके आचरणपर सुपरिणाम होता है, इसलिये ब्रह्मविद्याका अध्ययन गृहस्थाश्रमके पूर्वही होना आवश्यक है।

पाठक भी इस अध्यायके मननके पश्चात् जान सकते हैं कि, इसमें कोई ऐसी बात नहीं कही है, कि जो पूर्व आयुमें ज्ञात होनेसे हानिकारक सिद्ध हो, प्रत्युत इस अध्यायके सबही उपदेश आबालवृद्धोंको अत्यन्त लाभदायक हैं, ऐसा प्रत्येक पाठक अध्ययनके पश्चात् अनुभव कर सकता है। इसलिये इसका अध्ययन पूर्व आयुमें ही होना आवश्यक है।

(१०) निष्काम-कर्मयोग ।

भी कङ्कराचार्यजी कहते हैं कि ज्ञान और कर्मका विरोध इस उपनिषद्में है और सर्वत्र है । परंतु इस उपनिषद्का विचार करनेसे पता लग जाता है कि ज्ञान और कर्मका समुच्चय इसकी अभीष्ट है । वह उपनिषद् बतला वह बतलाव कर्मयोगका विवेचन कहा है और कर्मसाधन प्रवर्तक भी गयी है । देखिये इसकी मंत्रोंमें क्या क्या उपदेश कहा है ।

मंत्र १— “कर्मतेज मुचोषाः क्व जाता क्वा दे । ज्ञानपूर्वकं योज करेक्य कस्वेत क्वा दे । निष्काम-कर्मयोग य नीच इतमं ह । भीमद्रुपवह्नीतामं शित निष्काम कर्मो महती पाप्मन को नर्है, कष्टका मुक्त नीच इस मंत्रके इस कर्ममें है ।

मंत्र २— “कर्म करते हुए ही सर्व जीविकी इच्छा करनेका उपदेश इस मंत्रमें है । प्रथम मंत्रमें कोई हुए निष्काम मात्रसे कर्म करते हुए ही सर्व जीविकी इच्छा प्राप्त करनी चाहिये । वह दोनों मंत्रोंका इच्छा प्राप्त है ।

इस प्रकार प्रथम और द्वितीय मंत्रका वास्तविक कोई विरोध नहीं है, परंतु भी कङ्कराचार्यजी कहते हैं कि पश्चिम मंत्र काविके विभिन्न है और दृष्टा मंत्र ज्ञानके अनधिकारीके विभिन्न है । इस प्रकार दोनोंका परस्पर विरोध है । एतद्गीतामें इसकी परस्पर संघर्ष को देखते कस्मो इसमें कोई विरोधही नहीं दिखाई देता । “परमेष्ठार सर्वत्र है, कर्मपूर्वकं योज करो ज्ञान न करो । निष्काम कर्म करते हुए ही सर्व जीविकी इच्छा करो वही एक मार्ग है, दृष्टा कोई मार्ग नहीं, वरको कर कर्मका ज्ञेय नहीं कथता । वह दोनों मंत्रोंका प्राप्त है । क्या इसमें परस्पर विरोध है । वास्तवमें दोनों मंत्रोंका वास्तव मिश्रणही पूर्ण गन्तव्यवर्ग कथता है । और इसी दृष्टिसे इस मंत्रोंमें और देखना चाहिये ।

मंत्र ३— “आत्मभातक कर्म करेवालोंका ज्ञान-पाठ होता है” ऐसा तीसरे मंत्रमें कहा है । वास्तवमें वह है कि कोई इस प्रकारके आत्मभातक कर्म न करें

और सब आत्मोन्नतिकारक पुरुषार्थ करकेही अपना अभ्युदय और निश्रेयस्का साधन करें ।

मन्त्र ४- इस चतुर्थ मन्त्रमें “ मातरि—श्वा अप दधाति ” यह वाक्य है । माताके उदरमें रहनेवाला गर्भस्थ जीव भी कर्मोंको धारण करता है, यह इसका तात्पर्य है । पहिले जन्ममें किये हुए कर्म सस्कार रूपसे गर्भमें भी रहते हैं, यह इसका तात्पर्य है । कर्म छूटते नहीं हैं । निष्काम भावसे ही कर्मके बंधनको तोड़ना चाहिये । यह इस उपनिषद् का आशय है ।

मन्त्र ५- इस मन्त्रमें “ तद् एजति ” वह ब्रह्म सबको गति देता है । ऐसा कहनेसे उसके एक विशेष कर्मका उल्लेख किया है । आत्मा ही सब जन्म जगतमें हलचल करता है । इसका तात्पर्य यह है कि किसीको भी बिलकुल कर्महीन रहना असंभव है । भगवद्गोतामें भी इसी हेतुसे कहा है कि “ कोई क्षणमात्र भी कर्म न करता हुआ रह नहीं सकता । ” (भ गी ३/५) क्योंकि आत्माका स्वभाव ही हलचल करना है । इसलिये यह मन्त्र भी कर्मसूचक ही है ।

मन्त्र ८- इस मन्त्रमें आत्माके जो गुणबोधक शब्द हैं वे भी कर्मबोधक ही हैं । “ कवि, मनीषी, परिभू ” ये शब्द विशेष व्यापारके ही बोधक हैं । तथा “ अर्थान् व्यदधात् ” यह वाक्य तो नि सदेह उसके कर्मका ही बोधक है । “ सब अर्थोंको वह ठीक प्रकार करता है । ” यही उसका पुरुषार्थ है अथवा स्वभाव है ।

मन्त्र ९-११— में “ विद्या और अविद्या ” अर्थात् आत्मज्ञान और प्रकृतिविज्ञान को उपासना करनेका उपदेश है । यहाँ कईयोंके मतसे “ विद्या अविद्या ” ये शब्द ज्ञान और कर्म के बोधक हैं । इस दृष्टिसे भी ये मन्त्र ज्ञान और कर्म के समुच्चय का उपदेश कर रहे हैं, नकि ज्ञान और कर्मके विरोध का ।

मन्त्र १२ १४— इन मन्त्रोंमें “ समूति और असमूति ” अर्थात् सघभाव और व्यक्तिभावके कर्तव्योंका उपदेश है । सघभाव और व्यक्तिभावके कर्तव्योंका विरोध नहीं है, प्रत्युत दोनों कर्तव्योंका समुच्चय ही इस उपनिषद् को अभीष्ट है ।

मंत्र १५- में कहा है कि " अपने आचरण की दृष्टि की ओर अपना ध्यान केंद्रित करो । " इसमें भी पुनर्वास की ही अपेक्षा है ।

मंत्र १६- में भी आत्मिक ध्यान " कर्तु " कहा है । यह पुनर्वास का सूचक है ।

मंत्र १८- में एक कर्मके आत्मिकता के परमेश्वर की मार्गदात्री है कि वह पुनर्वास कर्तु के लिए हमारे द्वारा पुनः कराने वाली अपने धर्मपरिचय के चाने । यह भी पुनर्वास ही है ।

इस प्रकार इस आत्मिकता प्रत्येक मंत्र के पुनर्वास का सूचक है । तथापि कई बार तो है कि वह कर्मिक कर्मकीयता का उद्घाटन करता है । क्या इसके और अधिक कोई आचरण है ? वास्तव में वैसा इसमें कर्म और ध्यान का समुच्चय " स्पष्ट कर्मोपपन्न " है वैसा ही अमिच्छावृत्तिता में भी कहा है । यदि यौगा संपूर्ण उपनिषदीय धार है तो संपूर्ण कर्मिकता भी नहीं अप्रियाय दोषा वादिते और वैसा है भी । परंतु कई संप्रदायों के अपने संप्रदायों के अनुसार इस धर्मकर्म समुच्चय का निरोध करते हैं । परंतु वह मत इस मंत्र में नहीं है वह उनका भिन्न मत है । इस ईश्वरप्रेमिक का तो स्पष्ट मात्र 'आत्म-धर्म समुच्चय' ही है ।

(११) ज्ञान और कर्म के समुच्चय का मुख्य हेतु ।

आत्मिकता का अन्तर्भाव है । वास्तविक ज्ञान एतद्विधि और तुल्य । इस अवस्थाओं में आत्मिकता का एतद्विधि प्रकट हो रही है । यह अवस्थाओं के नाम परमात्मिक ज्ञान के द्वारा ऐतद्विधि प्रकट और आत्मिकता के द्वारा है । अर्थात् आत्मिकता के द्वारा ज्ञान का एतद्विधि प्रकट और एतद्विधि संबंधित है । यही अवस्था में आत्मिकता के द्वारा एतद्विधि प्रकट हो रही है । अर्थात् एतद्विधि प्रकट इन बातों अवस्थाओं में आत्मिकता के द्वारा एतद्विधि प्रकट हो रही है ।

आत्मा	परमात्मा	अवस्था
सुषुप्ति	सुषुप्ति] नेप्थमं अवस्था, (ज्ञान) निवृत्ति
सुषुप्ति	प्राज्ञ	
सुषुप्ति	तैजस] कर्म अवस्था (कर्म) प्रवृत्ति
जागृति	वैश्वानर	

इनमें दो अवस्थाएँ कर्मकी हैं और दो नेप्थमकी हैं। चारों आवश्यक होनेके कारण ज्ञान और कर्मका समुच्चय होताही आवश्यक है। यह कोई नहीं कह सकता है कि इनमेंसे किसी अवस्थाकी बिट्ठुल आवश्यकता ही नहीं। जो अवस्था नष्ट होगी, उस अवस्थामें व्यक्त होनेवाली आत्मा भी शक्ति मुक्त हो रहेगी, उस अवस्थाके बिना यह प्रकट ही नहीं हो सकती। इसलिये जैसा आत्मा मनातन है वैसी ये चारों अवस्थाएँ भी सजाता ही है। परमात्मा भी तैजस वैश्वानर आदि द्वारा कर्म करता ही है, जो गतिरूपके अनादि प्रवाह दिसाई दे रहा है। परिच्छिन्न जीवकी भी उक्त कारणसे ही चारों अवस्थाएँ हैं। 'चतुर्पात आत्मा' इसी दृष्टिसे कहते हैं। उसके लो पाँच तोड़ने नहीं है। इस कारण कर्म और ज्ञानका समुच्चय ही उत्पत्तिका साधक है।

कह रहा ऐसा प्रश्न करेंगे कि कुछ अवस्थामें जागृति आदि अवस्थाएँ कहाँ हैं ? इस शरीरक उत्तरमें निरादन है कि शरीरके होने और न होनेसे सुख और अनुसुक्ति का कोई संबंध नहीं है। शरीरमें रहते हुए भी आत्मा सुखका अनुभव कर सकता है और शरीरत्याग होनेपर भी आत्मा यथाथी अवस्थामें रह सकता है। सुखिका हेतु हा और है। "आत्माकी निजशक्तिका अनुभव करना और अपने आपको बंधनोंसे अलिप्त देखना सुख है।" इसलिये यह शरीरमें कार्य करते हुए भी प्राप्त होती है। और इस कारण चारों अवस्थाओंका होना इसके लिये घातक नहीं है; प्रत्युत आत्माकी विकसित शक्तिका अनुभव करनेके लिये इसको जागृतिभी आवश्यकता होगी। यही मुख्य हेतु है कि ईशोपनिषद् तथा भगवद्गीता आदिमें ज्ञान और कर्मका समुच्चय कहा है। और किसी एक का स्वीकार नहीं किया। आशा है कि पाठक इस समुच्चयका महत्त्व जानेंगे।

(१२) इस अध्यापमें आये हुए आत्मावाचक शब्दाका विचार ।

पहिले मंत्रमें 'ईश' शब्द है यह "जामी अविपति एवा" का मूल बताया है । इससे आत्माका सामित्य बतला एतदन्तात्तव किन्ही सूत्रे "अन्वीक" पर है यह बात विद्वद्गीता है और इसलिये इस अर्थमें एतदन्तात्तव-एव कम यह आत्मा करता है यह सिद्ध है । मैत्रा वेदका कर्म है ऐशा स्वामीका भी कर्म है । स्वामी होनेपर कर्म हूय्यत नहीं है परंतु करता है ।

द्वितीय मंत्रमें 'नर' शब्द है । यह वाचक मैत्रा "कामेच्छका" इस आत्मनके बता रहा है । विवका मैत्रा इसके पास है कवको कामेच्छा और मोक्ष विवधि कामेच्छा कर्म करता इसके आत्मनक ही है । इसलिये यह शब्द भी इसके कर्मका बोधक है ।

तीसरे मंत्रमें 'जवा' शब्द अथवाय कर्म करनेवाले सामान्य बोधेयका बोधक है । इस अवस्थामें यह केवल प्रत्यय करेयका कम करता है एतदन्तात्तव कल्पित करता ही इस अवस्थामें इसका कर्म है ।

चतुर्थ मंत्रमें "अद्य" शब्द है । मत्तर्कक अद्य' वास्तुके यह शब्द बताया है, इसलिये इसका अर्थ पतिप्रदान ही है । पति भी एक कर्मही है । ज्ञानार्थक भी यह शब्द है । एतदर्थ ज्ञान और कर्मका इस शब्दमें समुच्चय है ।

पञ्च और छठम मंत्रमें "आत्मा" शब्द है । "आत्मा वयम्" किन्ना एतत्त कर्म करनेके अर्थवाचक अद्य' वास्तु इस शब्दमें है । इसलिये 'एतत्त कर्म करनेवाला' ऐशा इसका स्वरूप बताया ही कर्म है । इसलिये आत्मनके का अर्थमें "प्रत्यय" भी एक अर्थक है । इच्छा होय ह्यह ह्यह प्रत्यय ज्ञान से आत्मनके का अर्थक है और अद्यक 'अद्य' वास्तुके अर्थके एतत्त कर्मक है ।

अष्टम मंत्रमें "अवि कर्मवी परिभू" आदि शब्द आत्मनके विविध गुण बता रहे हैं । इसमें यह विचारणीय है कि ये ही विवेचन "अग्नि" वेदवाले भी हैं । वेदके-त्वमग्ने प्रथमो अग्निरक्षामः कविर्द्विजानां परि भूपति प्रथम् ॥

“हे आने ! तू (अग्नि-रम्-नम) अगोंमें मुख्य सत्वरूप (प्रथमः कविः) पहिला कवि है और (देवाना मत) इन्द्रियोंका मत, अग्ना देवताओंका मत (परि भूपति) सुभूषित करता है ।”

शरीरमें आत्मा सब अंगोंका मुख्य सत्त्व है और यह इन्द्रियोंका व्यापार चलाता है । तथा जगत्में परमात्मा मुख्य मन्त्ररूप है और मर्यादिकोंको चलाता है ।

इस मन्त्रमें “अग्नि” शब्द आत्मावाचक है और उसका “कवि” यह विशेष है जो वा० य० अ० ४० के आठवें मन्त्रमें शुद्ध आत्माका विशेषण आया है । अग्निका अर्थ वेदमें आत्मा है इसका यह एक प्रमाण है । इस विषयके अधिक प्रमाण यहाँ देनेकी आवश्यकता नहीं है । इससे पूर्व जो अग्निदेवताका विचार किया है, उसमें यह मन्त्र भी देनेसे योग्य है । अस्तु ।

पन्द्रहवें मन्त्रमें “सत्त्व” शब्द आत्माका वाचक है । ‘सत्’ का यमन करता है अर्थात् ‘सत् का नियामक’ आत्मा है । यह नियमनरूप कर्म करता रहा है ।

सालहूने मन्त्रमें उक्त अगकाही “यम” शब्द है । नियामक शामक, ये इसके अर्थ हैं । “ईश” शब्दके अर्थके साथ ही इसका सवध है । “पूषा” शब्द पापण करनेका भाव, “ऋष” शब्द गति और ज्ञानका समुच्चय, “सूर्य” शब्द प्रभव ऐश्वर्यवाचक ‘सु’ धातुसे बननेके कारण सब जगत् की उत्पत्ति और सब जगत्का ऐश्वर्य बढानवाला आत्मा है यह भाव बताता है । इसी मन्त्रमें “प्रजापति” शब्द है उसका भाव प्रजापालनरूप कर्म है । यही भाव प्रथम मन्त्रके ‘इश’ शब्दमें व्यक्त किया है । “पुरुष” शब्द पुरियोंमें रहनेका भाव बता रहा है । पूर्वाक्त चार अवस्थाओं चार पुरियोंमें रहनेसेही इसके अनुभवमें आती है । इसीलिये पुरुष शब्दसे पूर्वोक्त चार पुरियोंके साथ सवध और वहाँके कर्म व्यक्त होते हैं ।

मंत्र १७ में “ऋतु” शब्द कर्मका ही बोधक है । यह शब्द इसका स्वभाव धर्म बता रहा है । “सतक्रतु” शब्द जो इन्द्रवाचक है वह भी आत्माका

वाचक है। लो वर्ण जामिनी राखर प्रज करवेका भाव बस बाध्यमें है। इसीप्रकार
इस व्याख्याके द्वितीय भागमें “कम करते हुए यहाँ भी वच जामिनी दृष्टा करते”
ऐसा अर्थक किया है। बसका “अतः” कहते निरुद्ध संभव है।

ਭਠਰ(ਵੈ ਮਤਰੈ ਅਮਿ)ਭਧਰ ਜਾਣੇਯਾਭਰ ਹੈ ਜਕੋਭਿ ਭਰ ਬਧਰਭਰ ਜਗੁ
ਜਾਣਾਭਰ ਭਰਾ ਹੈ ।

इस प्रकार आत्माशुद्धि सभी कर्म पुरुषार्थक मान्य है यह क्या आत्मतुष्टि विचार करनेयोग्य बात है। इन कष्टों में जो जो आत्मतुष्टि गुणधर्म व्यक्त हो रहे हैं उनका विचार करके आत्मतुष्टि वास्तविक स्वस्वतन्त्र पता लग जायगा। और कर्म करना उसका स्वभाव है यह बात भी इस विचारसे सिद्ध होगी। जब इन कष्टों में परस्पर धर्मेव समा है इसका विचार करना है—

(१३) इस अध्यायके विशेष नामोंका

परस्पर संबन्ध ।

[illegible]

परमात्मा सदा पूर्णज्ञानी है, परंतु जीवात्मा किसी कारण मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञानसे युक्त होता है, यह अज्ञानरूप जो अवस्था जीवात्माको किसी कारणविशेषसे प्राप्त होती है, वह कदापि परमात्माको नहीं होती । इस अवस्थाके बोधक जितने शब्द जीवात्माके लिये प्रयुक्त होते हैं, वे सभी परमात्माके लिये प्रयुक्त नहीं होते । यह विशेषता लक्ष्यमें रखनी चाहिये । इन शब्दोंमेंसे एक “आत्म-हन्” शब्द तृतीय मंत्रमें प्रयुक्त हुआ है । आत्माका घात जो करता है वह आत्महन् होता है । जिसको जन्म और मरण नहीं है ऐसे अज और अमर “आत्माका घात” कैसा होता है ? अपनी शक्तिका पता न होनेसेही “आत्मघात” होता है । इस अध पातका कारण अज्ञान है । यह “आत्म हन्” शब्द उन जीवात्माओंका बोध करता है कि, जो स्वकीय शक्तिसे अनाभिज्ञ होनेके कारण अपने आपको निर्बल समझते हुए हीन अवस्थामें गिरते जाते हैं । ये आत्मघातकी लोभ अपनी शारीरिक शक्तिमेंही मस्त रहते हैं, नहीं नहीं अपनी शक्तिकी घमटसे उन्मत्त होकर बड़ेही अनर्थ करनेके लिये सिद्ध होते हैं, और प्रत्येक प्रयत्नसे गिरतेही जाते हैं ।

“अमु” प्राणको कहते हैं । उन प्राणोंकी जो शक्ति है वह ‘अमुर्य’ नामसे प्रसिद्ध है । यह वस्तुतः आत्माकी शक्ति है, परंतु यह स्थूल शरीरमें कार्य करती है । इस शक्तिमेंही केवल मस्त रहनेके अथवा इस शक्तिसे स्वार्थी भोग बढानेके कारण इसकी अवनति होती है । इस शक्तिको नष्ट करके जब ये इस अपनी शक्तिका सबकी भलाइके लिये यज्ञ करेंगे, तभी इनका दोष दूर हो जायगा और ये “आत्मघातज्ञी” नहीं कहलायेंगी ।

अपनी शारीरिक शक्तिको पूर्वोक्त प्रकारके यज्ञमें जो समर्पण करता है, उसकी योग्यता उच्च होती है वह इस अवस्थामें “नर” कहलाता है । इस अवस्थामें आनेसे यह भोगको तिलाजलि देकर, अपनेही सुखमें सभी “नहीं रमता” इसी लिये न रमनेके कारण ‘न+र’ नाम उसके विषयमें सार्थ होता है । स्वार्थी फलभोगकी इच्छासे किये हुए सकाम कर्म जो आत्मघातके

मार्गमें लक्ष्यो के बाते से से जब नहीं रहे । कर्ममार्गमें व रमनेके कारण वह निष्कर्म कर्म करता है और उही कारण कर्मके बंधनसे मुक्त होता है वह मात्र द्वितीय मंत्रमें पाठक देख सकते हैं । वैसा निष्कर्म कर्म करनेवाला सगुरुन वर कहलाता है उही प्रकार पूर्ण आत्मकर्म परमात्मा भी जबतक वर है क्योंकि उक्त सच कर्म पूर्ण निष्कर्म आत्माकेही होता रहता है ।

इस प्रकार भी निष्कर्म कर्म करता है, वह संपूर्ण सत्कर्म करता हुआ भी कुछ भी न करनेवालेके समान मिलेप रहता है अत एव कहते हैं कि वह “ अ-पाप-विद्व ” अर्थात् निष्पाप है । पापका बन्धन उक्तको नहीं लग सकता क्योंकि पापके मूल कारणकेही उक्तसे दूर भिन्न है । जो पापके बन्धनसे मुक्त है वह “ द्रुव ” है इसमें क्या संशय हो सकती है । जो द्रुव और पवित्र होता है वही “ शुद्ध ” अर्थात् निर्मलान् विद्व कहलाता होता है । अपवित्र द्रुव और पापी जो होता है वह कदापि आत्मिक बन्धनसे मुक्त नहो हो सकता । धर्म निर्वर्णता-कही आत्मिक बन्धनसे पाप धर्म है ।

मेमाँका उपमोच होनेके लिये जरूर है जिसने कर्मयोगको इच्छाका साथ किया, उक्तको कटीरकी आत्मनकटाही नहीं रहती वह इसलिये अ-कारण” कर्महीन भिन्न विवेक व्यवस्थामें रहता है, तथा कटीरके साथ होनेवाले मगारि बीच उक्तको बन्ध नहीं देते । स्नातुके बन्धनसे वह बहिष्क नहीं समझ जाता परंतु बन्धन बन्धन अनीतिक हुला करता है । वह कर्मके बन्धनमें रहता हुआ वैद्वाराण नहीं करता प्रत्युत आत्मनकटा हीनेपर स्नेहकासे वैद्व वाराण करके बन्धनको छठनेका महात्म सत्कर्म करता है ।

वह आत्मज्ञ है कि अपना आत्मा मनसे भी वेपना न । “ मयसः आधीया ” मयके वेपने अधिक वेपनात्म अपने आत्मके जो मानस है वह अपने मयका स्वामी मन्त्री ” होता है । वही अपने मयके स्वाधीन रख सकता है क्योंकि वह जानता है कि मैं मयका स्वामी हूँ और मय मेरा सेवक है ।

मनके आधीन अर्थात् इन्द्रिय और सब कटीर है । इस हेतुसे जब मन स्वाधीन हो जाता तब तब इन्द्रिय और कटीर स्वाधीन हो जाता है और इस प्रकार

वह अपनी शक्ति चलाता है, मानो इस समय सबसे ऊपर उसके आत्माकी शक्ति होती है । वह इस अवस्थामें अपने आत्माको 'परि-भू' अर्थात् सब शारीरिक शक्तियोंके ऊपर प्रभाव चलानेवाला अनुभव करता है ।

अपने आत्माको वह अपने शरीरका "ईश" मानता और अनुभव करता है । मैं इस शरीरका राजा हूँ, मैं इस शरीरमें इन्द्र हूँ और मेरी शक्तिही इस शरीरमें जाकर इन्द्रियोंमें कार्य कर रही है । इस शरीरमें "आत्मा" होनेसे स्वकीय शक्तिके साथ रह सकता हूँ, इसलिये मैं "स्वयं भू" हूँ । मैं अजन्मा हूँ, मेरी उत्पत्ति नहीं हुई, मैं स्वयंही हूँ, इसीलिये "स्वयं-भू" मुझे ज्ञानी कहते हैं । इस रीतिका विचार करके इस अवस्थामें वह अपने आपको स्वकीय शक्तिसे अवस्थित अनुभव करता है और अपनी आत्मशक्तिसे यह शरीर चल रहा है ऐसा देखता है । आत्मा अपनी शक्तिसेही रहता है, परन्तु शरीरके अस्तित्वके लिये आत्माका रस चाहिये, आत्माकी शक्ति चाहिये । इस रीतिके विचारसे वह अपनी स्वतन्त्रताका अनुभव प्राप्त करता है और अपने आधारपर शरीरका अस्तित्व है, अतएव वह शरीर परतन्त्र है ऐसा देखता है ।

मैं 'एक' हूँ और मेरे एकके आधारसे शरीरकी अनेक शक्तियाँ हैं । उन अनेक शक्तियोंमें अपने 'एकत्व' का यह अनुभव करने लगता है । अनेक भिन्न पदार्थोंमें एकत्वका अनुभव करनेका अभ्यास इस रीतिसे उसको होता है ।

मैं कभी कपायमान नहीं होता (अन्-एजत्), क्योंकि शरीर बननेके "पूर्व" मैं था, और शरीर नष्ट हो जानेपर भी मैं रहूँगा, और बीचकी अवस्थामें मे शरीरको (अर्शत्) गति दे रहा हूँ । शरीरका अस्तित्व बीचकी अवस्थामें है, परन्तु मेरा अस्तित्व शरीरसे पूर्व और उत्तर कालमें भी एक जैसाही है । इस ज्ञानसे वह निर्भय होता है और अपने गौरवका वह अनुभव करता है । मुझे कोई पाशवी शक्ति नहीं दबा सकती । क्योंकि पाशवी शक्तिमें कई गुणा बलवत्तर जो आत्मशक्ति है वही मैं हूँ, इस प्रकारके मननसे वह आत्मिक बलसे परिपूर्ण होता है ।

यह तीनों नामोंमें कुछ प्रकार अपने आपको सत्य^१ स्वरूप समझता है। किसी काममें मैं नहीं जा देख कोई बात नहीं है। परंतु शरीर एक काममें आता है और दूसरे काममें बका जाता है। उलटके अपने न भविष्य अपनी आत्मवर्षिमें और मृत्युवर्षि नहीं होता। यह अतीतिवर्षि अनुभव इस समय यह करता है इसलिये उलटके इस समय “कवि” कहते हैं। जो साधारण लोग नहीं देख सकते कुछ वस्तुओं अपनी असाधारण दृष्टिसे वशि छोप देखते हैं। यह असाधारण दृष्टि लक्ष्मी इस समय होती है। इस दृष्टिके कारणसे यह अपने अंदर विलक्षण वक्ष्य अनुभव करने लगता है।

यह देखता है कि शरीर बाल्य करनेके पूर्व उसको माताके घरमें रहना पड़ा है। “यातारि-आ” मैं ही हूँ ऐसा यह इस विचारसे समझता है। स्नेहोंके यह कारण करनेके समय अथवा कर्मसे प्रवाहमें पड़नेके कारण द्वितीय^२ जन्म बाल्य करनेके समय माताके घरमें जाना जाकरक है। तथा एक शरीर छेड़कर दूसरा लेनेके पूर्व जो गर्भस्वाभाव अवस्था है उसमें भी पूर्व शरीरारा मेरी मेराके निम्न हुए पूर्व संस्काररूपसे रहते हैं। अथवा बिना हुआ कर्म यह नहीं होता। कर्म करकेके द्वारा बिना जाता है परंतु संस्कार-रूपसे जन्मजन्मांतरात्क यह रहता है। इसलिये आवश्यक है कि मनुष्यत्व कर्म हो बिने जाय। और कभी ऐसे कर्म न हों कि जो मितलनेके हों। मैं अत्मा ही इस कर्मभूमिमें-वेष्टे-कर्मकर्ता हूँ। मैं ही इस यज्ञाभूमिमें-रहते यज्ञकर्ता हूँ। मेरी योग्यते ही कहां के यज्ञ हो रहे हैं। इसी लिये मुझे “कतु” कहते हैं। इस रहमें रहता हुआ मैं ही कर्म यज्ञ करता हूँ इसलिये ही मैं दात कतु हूँ। इस लक्ष्मीवर्षिक यज्ञरा बात बीचमें ही विप्लविक द्वारा होना उचित नहीं। पुत्रिचारकमी लक्ष्मी सहजोन्मी संकाममें हों जोकि इस यज्ञका विचार कर रहे हैं। परंतु मैं इसको अवश्य विविन्नत्वसे सम्याप्त करूँगा।

मैं “पूया” हूँ, क्योंकि इस शरीरकी पुष्टि मेरी शक्तिसे हो रही है। शरीर की पुष्टि मेरे बिना नहीं हो सकती। मैं ही इस शरीरका और सब अर्थ संपूर्ण द्वितीय^३ निम्न करनेवाला होनेसे कहां “यम” हूँ। कम और निम्नोके पावन करने द्वारा लक्ष्मी बचावोन्मी रीतिसे निम्न अन्ववर्षी करूँगा। उलट-

पूर्वज लक्षणमोक्षिका मयसोम्य दीनये पातन कृत्वा हुमा गु दमा उल्लभ करणे
 नम गुपयथा जगम दकारे पातन कृत्वा । कर्त्तव्येति विना मेरे मयसोका
 परिशालन कै । करणा । "प्रजा पति" का धर्म पातन कृत्वा मेरे निवे आकाश
 ही दे । मैं "प्रजापति" ही हूँ । इसलिये गुदमा निर्मित करके लला मोम
 पातन कृत्वा मेरा सोम्य और धन कर्त्तव्य दे । "सूर्य आत्मा जगत्सम्पत्-
 पक्ष ।" (२ १११५१) मगवर जगमकर अवका ही लूँ दे । यही क्षीरमे
 वासादि मगवर और मय आदि जगम गदापौर में आता हूँ इसलिये यही मैं
 ही 'सूर्य' " हूँ । मे मेरे गताश्वा गात्र विना मय द्रवियों प्रकाश कर रहे हैं,
 ये ही मेरे (गताश्वा) गात्र मोह रहे हैं । ये ही "मय प्रजापति" हैं और गदापौर
 'क्षीर' आत्मास्यमे मैं यही विराजमान हूँ ।

यही मयी उर्ध्वमणि होगी मय शरीर पवित्र रहता है और मेरे नाममे यही
 तम अमणल हो जाता है, इसलिये यही मय कृत्वा करनेवाता मैं हूँ
 'कल्याण-तम' हूँ ।

इम देहस्वी पुरीषा 'ईश्वर' मैं हूँ । 'पुरीषा' मेरा नाम है । पुरीमे यमोके
 पातन मुझे 'पुरुष' कहत है । इस चार पुरीसोमे रहता हुमा मैं जाति,
 मन, गुणम और गुण इस चार अवस्थाओंका अनुभव करता हूँ । ये ही ओंकार-
 च चार पाद जगम अ, उ, म अर्धे मात्रा यामे गुपति है । इस प्रकार
 आकाश' मेरे चारों अनुभवाका वर्जन कर रहा है । स्थूल, सूक्ष्म, कारण और
 मद कारण ये इन चार पुरीसोंक नाम हैं और उनके चार मुखों ओंकारमें हैं ।
 चारों अवस्थाओंका अनुभव करनेवाला मैं किसी आर्याके होने न होनेमे नष्ट
 नही होता, इसलिये मैं अपने आपको 'अह' अर्थात् अहम् समझता हूँ ।
 यही मैं मनाउन सता है ।

पूरा मन मयकाय । जगमे दया कर रहे हैं यह आत्मानि मैं ही हूँ । यही
 आत्मा "आत्म" है जो इस शतसावसरिक "पुरुषस" का अधिष्ठाता
 'अह' है । यही सब मोक्ष जानता हुआ, इस शरीरस्वी रूप मैं बैठकर
 अपने स्वयंसेवक अनुभव करता हूँ आ प्रगति करता हूँ । अस्तु ।

इस क्षमिबद्धों को आत्मावाचक एम् है वनछ बीयात्माके विषयमें जो
 अर्थ जेना आत्मावाचक है, और जिस अर्थका चिह्न करता हुआ अथवा परमात्मा
 के चिह्न प्रतीक चिह्न करता हुआ बीयात्मा अपने अन्तर जब तन्मूर्तिका
 विचार करते वकाल हो वनछ ई वनछ वर्णन ऊपर किया है। इन तन्मूर्तिका
 परमेश्वरविषयक वर्णन अधिक है और वह आपे आ जावना। इसीसे वनछ ।
 यही पुनः वनछ करनेकी आवश्यकता नहीं है।

(१४) आत्मज्ञानकी आवश्यकता ।

जो काम स्वयंसे मिले जलंत आवश्यक है वह "आत्म-कर्म" ही है।
 साधारणतः बाप मृष्टिसे कामसे शीघ्र अपनी उन्नति करनेका मन करते हैं और
 शत्रुः ऐसे शीघ्र कामकाही करनेसे निश्चयमें नजमिन्न ही रहते हैं। इसके प्रत्यक्ष
 से ही जन्तुमें जलति प्रकट है। यही जलती चमकते काम करनेवाले शीघ्र
 हैं।

जो ऐसी शक्तित्वे वृत्त होते हैं वे आत्मात्मी शक्तित्वे ज्ञान स्थापन करते हैं। और ध्यान ध्यान वस्तुत्वे पदार्थत्वे भी विज्ञान प्राप्त करते हैं। और दोनों ही धर्मोत्वे ऐसी शक्तित्वे करते हैं कि जो स्वामी शक्तित्वे किने कारणात्मा होती है।

सारीका संयोजक आत्मा है और संपूर्ण प्रवर्तक परमात्मा है। दोनोंके पुनर्जन्मका ज्ञान प्राप्त करना आत्मविद्याके अध्ययनसे होता है। पहिले कहा ही है कि बहुत जगहमें दोनोंके पुनर्जन्म एक जैसे ही हैं। एकदा प्रयाग और कर्णजेत्र छोटा और दूसरेका प्रयाग और कर्णजेत्र अपरिमित है। इन दोनोंके परिमित और अपरिमिततासे दृग्दृष्टि का ज्ञान तो बहुतसे पुनर्जन्म दोनोंके एक जैसे दिखाई देते। इसीलिये दोनोंके नाम एक जैसे ही हैं।

इस आत्म्याके मुनबर्मे जाननेके अपनी छवि क्या है और मैं क्या कर सकता हूँ इसका ज्ञान होता है, और वही ज्ञान व्यवस्थित होतु है। जो अपरके मुनबर्मेको जानता है परंतु अपने मुनबर्मेको नहीं जानता उसकी व्यवस्थिति भी कोई छीम नहीं है। इसी सिद्धे आत्म्याके ज्ञानभी अर्थात् आत्मज्ञान है।

प्रत्येकके आँखके सामने जगत् है, इसलिये प्रत्येक मनुष्य जगत्का कुछ न कुछ ज्ञान रखता ही है । परन्तु आत्मा वस्तुतः जगत्के भी पास है, और जगत्से भी अधिक प्रत्यक्ष है, परन्तु स्थूल इन्द्रियोमें उसका दर्शन न होनेके कारण उसके विषयक ज्ञान प्राप्त करनेमें बहुत थोड़े लोग प्रयत्न करते हैं । इसी लिये वेदमें इसीका मुख्यतः वर्णन विविध रीतियों और अलंकारोंके द्वारा किया हुआ है । आप किसी दवताक मन्त्र लाजिये, उसमें अशतः अथवा पूर्णतः इसी आत्माका वर्णन दिखाई दगा । परन्तु वैदिक रीतिसेही उसको देखना चाहिये । अन्य बातोंका वर्णन गौण रीतिसे है, और प्रत्येक प्रकरणमें इसीका वर्णन मुख्य है, इसका हेतु यही है ।

आत्मा और जगत् इन दोनोंके ज्ञानका समुच्चय उन्नतिका साधक है, यह वतानेके लिये ही इस अध्यायका ‘विद्या अविद्या’ प्रकरण है । इसलिये अब इसी विषयका विचार करेंगे—

(१५) विद्या और अविद्या

“विद्या और अविद्या” से किसका बोध लेना है इसका अब विचार करना है । प्रायः भाष्यकारोंमें इन शब्दोंके अर्थके विषयमें मतकी एकता नहीं है । देखिये—

‘विद्या’ = (श्री शंकराचार्य) देवता-ज्ञान । (श्री रामानुजाश्रित्य नारायण प्रकाशिका) ब्रह्मोपासना, परमात्मोपासना । (श्री माध्व० जयतीर्थ विवरण) ईश्वरका यथार्थ ज्ञान । (श्री स्वा दयानन्द सरस्वती) शब्दार्थसम्बन्ध-विज्ञानमात्र अवैदिक आचरण, आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनित यथार्थ दर्शन ।

‘अविद्या’ (श्री शं०) कर्म । (श्री रा, ना प्र) कर्म । (श्री मा ज वि) अययार्थ ज्ञानही निन्दा । (श्री स्वा द) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मत्यातिरविद्या, इति ज्ञानादि गुणरहित वस्तु कार्यकारणात्मक जड परमेश्वरसे भिन्न ।

ये अर्थ इस समयतक किये गये हैं । इनमें जो जगत्पूज्य आचार्य हैं उनके अर्थोंपर हस्ताक्षेप करनेका हमें अधिकारही नहीं है । तथापि उक्त अर्थोंमेंसे ऋई

अर्थात् स्वीकृति करनेपर मंत्रोंके अर्चोत्ती संयति बनती है वा नहीं। इसका विचार यहां करना चाहिये। इस अध्यायमें विद्या अविद्या प्रकारमें धर्म मंत्र हैं। अन्तर्-अध्याय विध्य प्रकार है- । १

(१) जो केवल अविद्याकी उपासना करते हैं वे अंधेरेमें जाते हैं और जो केवल विद्यामें रमते हैं वे भी उससे घोर अधारेमें जाते हैं।

(२) विद्या और अविद्याका फल मिश्र है ऐसा धारियोंसे हम धुनतें पाये हैं।

(३) जो विद्या और अविद्याका समुच्चय करते हैं वे अविद्यास मृत्युको दूर करके विद्यासे अमृत प्राप्त करते हैं ॥

जी संवत्सर्वांशो विद्या और अविद्याका अर्थ अमृत। ऐवताज्ञान का कर्म करते हैं। परंतु वे अर्थ तीसरे मन्त्रके मन्त्रके साथ संयत नहीं होते। कर्मसे स्वर्ग प्राप्त होकर अमृतप्राप्त होता है। परंतु तीसरे मन्त्रमें "अविद्यासे मृत्युको दूर करनेका कर्म है, इसलिये कर्मसे मृत्युको दूर करनेकी संयत्तता व होकर कारण वह अर्थ ठीक नहीं। तथा ऐवताज्ञानसे भी अमृत अर्थात् मोक्ष मिलना नहीं है। इसलिये ४ अर्थ ठीक नहीं दीजते। "अमृत" शब्दका अर्थ वस्तुतः "ऐवताज्ञानमय" ऐसा अर्थ इतना ही दिया है। वह भी ठीक नहीं। विद्या अविद्याके अर्थ अमृत अथवा इतिम मन्त्रमेंसे अमृत शब्दका अर्थ भी बरकबा पडा है। विद्या शब्दके व्यापक अर्थका उल्लेख करके "ऐवताज्ञान" ऐसा लक्षित अर्थ करते तथा "अ-विद्या" शब्दका इतिम अर्थका अर्थ "कर्म" उपा करनेके कारणसे। अमृत "अमृतके अर्थका उल्लेख करना पडा है। परंतु ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

इस आलोचनो दृष्टिकोने धिये लक्ष्यसे यह उपाय सिद्धा है कि "अविद्या" शब्दका अर्थ "अमृत कर्म" करना। परंतु यह अर्थ तीसरे मन्त्रमें क्या देता है

क्योंकि वहां “ निष्काम कर्म ” ऐसा अर्थ उचित दीगता है । इसलिये ये अर्थ ठीक नहीं है ।

श्री मध्याचार्यजीका अर्थ “ अयमर्थ ज्ञानकी निंदा ” यह बिलक्षणही है । यह अविद्या शब्दसे कैसा निकलता है यह भी समझना कठिन है । अन्य अर्थोंका विचार करनेके पूर्व हम अतर्गत प्रमाणोंसे इन शब्दोंका अर्थ करनेका यत्न करते हैं—

इस अध्यायके प्रथम मंत्रके प्रथम पादके साथ “ विद्या आविद्या ” का संबंध है, ऐसा पहिले कहाही है । यह प्रथम कारण यह है ।

“ ईशा वास्य इदं सर्वं । ”

“ ईश्वर इस संपूर्ण विश्वमें व्याप्त है । ” यह इसका भाव है । “ ईश ” शब्दकी सापेक्षतासे यह विश्व “ अनीश ” है ऐसा स्वयंसिद्ध होता है । अनीशके ऊपरही ईशका स्वाभित्य है । अन्तर्गत ऊपरही चेतनका अधिकार है । ईश शब्दके वाचक अन्य शब्द इस अध्यायमें “ आत्मा, ब्रह्म, सत्य, प्रजापति (प्राजापत्य), यम, पुरुष, एक ” आदि हैं । इनको क्रमशः निम्न कोष्टकमें रखा है—

ईश	अनीश
आत्मा	अनात्मा
ब्रह्म	जगत्
सत्य	असत्य
यम	यम्या
नियता	नियम्य
पुरुष	प्रकृति
एक	अनेक
प्रजापति	प्रजा
स्रष्टा	सृष्टि
(ईशा)	वाम्य (इदं सर्वं)

इसके ईश और इर " सम्बन्धि विषय की बात है, इस बातका ज्ञान ही लक्ष्य है । यही पदार्थ है एक पुनर और दूसरी प्रकृति । दोनोंका ज्ञान हीना अत्यन्तक है । केवल किसी एकका ज्ञान होनेसे कार्यवान नहीं हो सकता । इसलिये ईश सम्बन्धि ज्ञान विद्या अथवा प्रयोग कर्षि—

ईश—विद्या	अ—वीश—विद्या
ब्रह्म—विद्या	अ—ब्रह्म—विद्या
मया—विद्या	अ—मया—विद्या
—विद्या	अ—०—विद्या

दोनों ज्ञानोंके ज्ञान सम्बन्धी इसके " विद्या अविद्या " के दोही रूप लक्षित होते हैं । पूर्वोक्त दोनोंको अनुसंधानसे इन सम्बन्धी अर्थ निम्नलिखित प्रकार होता है—

(१) विद्या = ज्ञानका ज्ञान ।

(२) अविद्या = ज्ञानका विज्ञान ।

ये अर्थ प्रथम यंत्रके अनुसंधानसे होते हैं । इन बातों प्रमाणीकी अपेक्षा अंतर्गत प्रमाण अधिक बलवत्तर होता है, इसलिये ये अर्थ अंतर्गत प्रमाणीके मात्र होनेके कारण अधिष्ठानप्रमाणिक हैं । इस विद्या अविद्याके विवरण भुक्ति भी क्या कह रही है देखिये—

विद्याया वा अविद्याया यथात्मरूपवैश्वम् ।

शरीरं जगत् प्राविशत्तथा साम्यामी यजुः ॥ (अर्थ ११।८।१३)

" विद्या अविद्या तथा और भी कुछ विशेष करने योग्य है, वह शक्त, ब्रह्म, ज्ञान और (मया) अज्ञानसे शरीरमें प्रविष्ट हुआ है ।

इस मंत्रमें कहा ही है कि (विद्या) आत्मज्ञान केका अन्विष्ट करनेयोग्य है यही प्रकृत (अ—विद्या) श्रुतिनिष्ठान ही प्रमेयोग्य है, तथा इसके भी विद्या और (अन्वित लक्ष्यार्थ) ज्ञान का अन्विष्ट करनेयोग्य है । यद्यपि पूर्वोक्त

कि यह तीसरा क्या है ? विद्या अध्यात्मके "सबधका ज्ञान" जो है वह तीसरा उपदेश्य ज्ञान है ।

(१) एक आत्माका ज्ञान, (२) दूसरा जगत्के विज्ञान और (३) तीसरा आत्मा और जगत्के परस्पर सबधका परिज्ञान है । केवल आत्मज्ञान अथवा केवल जगद्विज्ञान ऐसा लाभकारी नहीं हो सकता, जैसा दोनोंका इष्टद्वय ज्ञान हो सकता है । अर्थात् दोनोंके सबधके परिज्ञानका भी बड़ा भारी महत्त्व है । यही बात इस अध्यायमें कही है । देगिये वेदी पूजाक तानों मंत्र—

“ (१) केवल प्रकृतिविद्याकी जो भक्ति करने हैं वे गिरते ही हैं, परतु जो केवल आत्मविद्यामें ही रमते हैं वे भी उससे अधिक अधनत होते हैं ।

(२) आत्मज्ञानका और जगद्विज्ञानका फल भिन्न भिन्न है ऐसा हम ज्ञानियोंके उपदेशमें सुनते आये हैं ।

(३) जो आत्मज्ञान और जगद्विज्ञानको साथ साथ लाभकारी समझते हैं, वे जगद्विज्ञानसे दु खोंको दूर करके, आत्मज्ञानसे अमृतको प्राप्त करते हैं । ”

जगद्विद्याके ज्ञानसे ऐहिक योगक्षेम ठाक चलता है और आत्मज्ञानसे आत्मिक शक्ति और शांति प्राप्त होती है । यदि केवल जगत्के विज्ञानमें ही लोग मस्त रहेंगे और आत्मज्ञानका ओर जायेंगे ही नहीं, तो इस अवस्थामें वे जगत्के भोग बहुत बढ़ायेंगे, यह बात ठाक है, परतु उनके प्रयत्नसे आत्मिक शांति न होनेके कारण लोग इनकी संगतिसे अधिकाधिक दु खोंमें ही गिरते जायेंगे । तथा दूसरे पक्षमें जो लोग केवल आत्मज्ञानमें ही रमेंगे और जगद्विज्ञानका विचार बिलकुल छोड़ देंगे, तो वे भी अधनत ही होंगे क्योंकि ऐहिक तथा स्थूलदेहविषयक स्वस्थता उनको बिना साष्टिविद्याके प्राप्त नहीं हो सकती । इस प्रकार ये दोनों केवल एक एक विद्याके उपासक होनेके कारण अधोगतिको प्राप्त होते हैं ।

इसलिये दोनों विधानोंका समुच्चय करनेकी सूचना इस अध्यायमें दी गई है । दोनों विधानोंको ब्रह्मसूत्रमें प्रमाणमें आकरके नैतिक विचारोंके ऐहिक फल प्राप्त होते हैं और अस्मिक विचारोंके अमौलिक फल प्राप्त होते हैं । इस प्रकार मनुष्य की वास्तविक मार्गदर्शक शक्तोंका अधिकारी होता है ।

अध्याय ४ में अन्त्यात्मिकता के इच्छित्वे इसमें जो यह सूचना दी गई है वह अर्थात् उपनिषद् है । विद्या-मन्त्रादीनां विचार करनेवाले इससे अपनी विद्या प्रपञ्ची ठीक कर सकते हैं । दूसरे ओर जो दोनों विधानोंको ब्रह्मसूत्रका फल करके अन्त्यात्मिकता के मार्ग प्रपञ्च कर सकते हैं । अन्त्यात्मिकता के फलस्वरूपके फलमार्गोंके बारे में कुछ इसी हो गई है । यही है कि इस समय विद्यामन्त्रोंके अन्त्यात्मिक और अमौलिक फल ही विद्या है । और प्रत्येक मन्त्राभिप्रायी अपनी अपनी ही तरफ खींच रहा है । वरुण इन दोनों मार्गोंका पुनः पुनः विचार करनेसे इन संशयोंकी विमूढता होकर योग्य मार्ग दिखाई देता है । आकाश है कि यद्यपि इन मार्गोंका और भी अधिक विचार करने ।

(१७) समुत्ति और असमुत्ति ।

इष्टोक्त विद्या-अविद्याके प्रकरणके अन्त्यात्मिक यह समुत्ति और असमुत्तिका प्रकरण अर्थात् विचार करनेयोग्य है । इन दोनोंके अर्थ जो इस अन्त्यात्मिकता के अन्त्यात्मिकता के अर्थ हैं वे नीचे दिये हैं—

‘समुत्ति’ (श्री ५) अर्थात् अन्त्यात्मिक विचारार्थ अविद्या । (श्री ५ ना ३) अन्त्यात्मिक । (श्री ५ ना ३) श्री इष्टोक्त अन्त्यात्मिकता को मानते हैं । (श्री ५ ना ३) यहैवारी अन्त्यात्मिकता के अर्थ हैं ।

‘असमुत्ति’ (श्री ५) अर्थात् अन्त्यात्मिक विचारार्थ अविद्या । (श्री ५ ना ३) अन्त्यात्मिकता के अर्थ हैं । (श्री ५ ना ३) अन्त्यात्मिकता के अर्थ हैं । (श्री ५ ना ३) अन्त्यात्मिकता के अर्थ हैं । (श्री ५ ना ३) अन्त्यात्मिकता के अर्थ हैं ।

इन अर्थोंका विचार करनेके पूर्व एक बात यह कहना आवश्यक है, यह यह है कि श्री० शंकराचार्यजी सभूति असभूतिके अर्थ जो पहिले मंत्रमें मानते हैं वेही अर्थ तीसरे मंत्रमें मानते नहीं, परन्तु उनके बिलकुल उलट अर्थ मानते हैं । उन्होंने लिखा है कि—

सभूति च विनाश चेत्यत्राऽधर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः ।

प्रकृतिलयफलश्रुत्यानुरोधात् ॥ (ईश० उ० शां भाष्य १४)

“ सभूति च विनाश च ” इस १४ वे मंत्रमें सभूति और विनाशके पूर्व अकारका लोप हुआ है ऐसा समझना उचित है ॥ अर्थात् ये सभूति शब्दके स्थानपर “ असभूति ” की और असभूतिके स्थानपर “ सभूति ” की कल्पना करनेको कहते हैं ॥ इस कथनसेही यह सिद्ध होता है कि इनके सभूति असभूतिके अर्थ तीनों मंत्रोंमें ठीक प्रकार नहीं लग सकते । जो अर्थ अपने प्रकरणमेंही सर्वत्र उपयोगी नहीं होते वे अर्थ किस प्रकार माने जा सकते हैं ? और जिन अर्थोंके लिये ‘ अ ’ कारके लोपकी कल्पना करनी पड़ती है वे ठीक भी किस रीतिसे हो सकते हैं ? तथा अकारलोपका कल्पना किस व्याकरणके किम नियमसे माना जा सकती है ? यह व्याकरणविरुद्ध कल्पना है ऐसा श्री० जयतीर्थ जी हा कहते हैं—

अकारलोपेन सभूतिरव्याकृतमित्यपूर्व

व्याकरणकौशलम् ॥

(श्री० जयतीर्थ विवरण १४)

“ अकार लापका कल्पना करके सभूतिकाही अर्थ अव्याकृत किया असंभूति करना यह अपूर्व व्याकरणका कौशल्य है । ” यद्यपि यह भाषा उपहासात्मक है, और इसलिये हमें उसका स्वीकार नहीं करना चाहिये, तथापि मूल आशय असत्य नहीं है । तात्पर्य अकारलोप मानकर अर्थ करना श्रुतिप्रामाण्यकी दृष्टिसे भी उचित नहीं है । श्रुतिको प्रमाण मानते हुए उसके शब्दोंके पूर्व अकारकी कल्पना करनेसे शब्दोंके विपरीतही अर्थ हो सकते हैं । इसलिये ऐसी कल्पना करनी न पड़ेगी ऐसेही अर्थ हमको ढूढने चाहिये । इनका विचार करनेके पूर्व सभूति असभूतिके तीनों मंत्रोंका शब्दार्थ यहाँ देखिये—

(१) जो असंमृति की कपासना करते हैं वे मंथेरेमें जाते हैं परंतु उससे भी बहरे मंथेरेमें वे जाते हैं जो कि संमृतिमेंही रहते हैं ।

(२) संमृति और असंमृतिका फल मित्र है ऐसा हम क्षानियोंके उपदेशमें सुनते पाये हैं ।

(३) संमृति और असंमृति को एक साथ उपयोगी जो समझते हैं वे असंमृतिके द्वारा मृत्युको दूर करके संमृतिके द्वारा असंमृतको प्राप्त करते हैं ।' (भाष्य म १-११; ईश्वर ११ १४)

अब फलश्रुति निष्कार करें कि पूर्वोक्त अर्थोंमेंसे कौनसे अर्थ निश्चय रहित उपरोक्ती हो सकते हैं । हमारी दृष्टिसे इन लक्ष्योंका सर्वत्र प्रथम मंत्रके द्वितीय पादसे है और उसके निष्कार करनेसे इन लक्ष्योंका अर्थ स्पष्टही स्पष्ट होना समझनीय है और यह अवस्थामें अन्धकारोपकी कल्पना करनेकी कोई आवश्यकता भी नहीं । देखिये प्रथम पदका द्वितीय पाद—

धार्मिक वा अमर्त्या अगत ॥

यह द्वितीय पाद है । प्रथम पादमें कहा है कि ईश्वर व्यापक है इस एक विषयमें । " (ईशा वाक्य इव सर्वे) इसके सर्व परकी व्यापक इस द्वितीय पादमें भी है । जो कुछ जगतीमें वस्तु है सब उसमें ईश्वर व्यापक है । यह हम दोनों पादोंका अर्थ है । हमारे इस श्रुत प्रकरणका अर्थ निश्चय करनेके लिये अगत्या अगत इव दो लक्ष्योंका ध्यान देखना आवश्यक है । 'अगत' के अनुवाक्य नाम है "अगती" । इसलिये 'अगत्या अगत' वाक्यमें अनुवाक्य और व्यक्ति की कल्पना है । "उमति व्यङ्गिस्त्वमे वो है उत तव निधमे ईश्वर व्यापक है यह वाक्य उक्त मंत्रार्थका हुआ । अब और इसका अर्थ करनेके लिये निम्न श्लोक देखिये—

अमर्त्या - X - अगत

अगती अगत

कृति एक पदार्थ

समूह	व्यक्ति
समाष्टि	व्यष्टि
सघ, जाति	एक व्यक्ति
मानवजाति	एक मनुष्य
सभूति	अ-सभूति

“जगत्या जगत्” इन पदोंसे जो गूढ़ भाव व्यक्त होता है वह उक्त कोष्टकमें दिया है । इनके कोशोंमें दिये हुए अर्थ नीचे देता हूँ—

(१) “ स+भू ” = मिलना, एक होना, सघधित होना ।

(२) सभव—मेल, मिलाफ, एकता, सहकार, गहयोग ।

(३) सभूत—मिला हुआ ।

(४) सभूति—समेलन, मिलना, एक होना, सघटना

(५) सभूय—एक होकर, साथ होकर, सहकार्य करके
सघ बनाकर

(६) सभूय समुत्थान—व्यापारी सघ हिस्सेदार होकर
व्यापार करना, मिलकर ऊपर उठनेका
यत्न करना, मिलकर एक होकर
शत्रुपर हमला करना

य अर्थ देखनेमें पाठकों को पता लग जायगा कि “ सभूति ” शब्दमें “सघ” का भाव है । इसका अधिक विचार करनेके लिये “ स+भू ” धातुसे बने हुए शब्दोंका प्रयोगही देखिये—

वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म संभूय कुर्वते ।

तत्संभूय समुत्थान व्यवहारपद स्मृतम् ॥

(नारद स्मृति)

“ वैश्य आदि लोग मिलकर (सभूय) सहकारिताके साथ व्यवहार करते हैं, उस व्यवहारको ” सभूय समुत्थान “ कहते हैं । ”

यह "संभूय समुत्थान" अर्थात् बहुकारिताय व्यवहार प्रत्यय कर्मिब
 है। इस श्रुतिमें अपने अपने कर्मों के लिये हुक्मा करता है । (१) ब्राम्हण वर्गका श्रुतिके
 लिये (२) क्षत्रिय सत्पुत्र इनका करनेके लिये (३) वरुण व्यापार
 व्यवहार करनेके लिये और (४) बह्वर्णीयोंके संघ बनाकर अपना कर्म
 करनेके लिये अपने अपने कर्मोंमें सब करता है । यद्यपि कर्मोंके कर्मोंके अनुसार
 प्रत्येक वर्गका संभूय-समुत्थान अर्थात् बहुकारी सब भिन्न भिन्न हस्तों
 के लिये हुक्मा करता है तथापि संघकी व्यवस्था लगभग एकसीही है । तब—

समूय लानि क्षर्याणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ।

अथैककर्मयागेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥

हेमचन्द्रादयः यत्र शिष्यः सम्भूय कुर्वते ।

कर्मजिरूपं विवेक्य क्षमेरुस्ते यथाशक्त ।

(सामान्य सभा)

“ श्री मनुष्य मित्राकर धन बनाकर अपने अपने व्यवहार करते हैं उनके कार्यके अनुसार लाभमें स्वर्ग का पद देना चाहिये । सुवार आदि किसी का धन धन बनाकर कार्य करेगा वहां उनके कार्यप्रवीणताके अनुसार उनके काम मिलना चाहिये ।

इकाग्रि एवास्मि " सं+सु बाधते बने हुए "संमुख सम्मुख बने हुए देखने योग्य है। वही कल्पना संमूर्ति में है। तात्पर्य "संमूर्ति" सम्मुख संबन्ध की कल्पना व्यक्त होती है। अर्थात् "असंमूर्ति" सम्मुख सम्बन्धन की याचना व्यक्त होती है। संवर्धन और अपवर्धन इस प्रकारके वर्णन है कि वात वस्तु स्वशीघ्ररूपसे वात हो सकती है। जब इस वर्णनके साक्षर करते तत्त्व मंत्रीका भाव देखिये—

(१) जो केवल व्यक्ति स्वार्थीयक बनते हैं वे गिरते हैं परंतु जो केवल संयोजक बनते हैं वे भी तनस अधिक करते हैं। (२) व्यक्तिभाव और संयोजकता एक मिश्र मिश्र है ऐसा हम जानियेके उपदेशों से सुनते आये हैं। (३) जो व्यक्ति भाव और संयोजकता काय काय उपयोगी समझते हैं वे व्यक्ति भावसे दुःखोंको दूर करके संयोजकतासे भ्रमर होते हैं।”

व्यक्ति धर्मका फल यह है कि उसके पालनसे व्यक्तिकी सत्ता उत्तम प्रकार-से रहती है। स्नान, ध्यान, भोजन, व्यायाम आदिसे व्यक्तिधर्मका पालन होनेके कारण व्यक्तिकी सत्ता सुरक्षित रह सकती है। परंतु एक एक व्यक्ति सुरक्षित होनेपर भा सघभावके विना उनमें चल नहीं बढ सकता। सघधर्मसे एक लाभ है और व्यक्तिधर्मसे दूसरा लाभ है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे व्यक्तिधर्मके पालनसे प्रत्येक व्यक्तिको उत्तम अवस्थामें रहनेका अवसर दें, और सघधर्मके पालनसे अपना सघशक्ति बढाते हुए जातीयताके साथ अमर बनें। प्रत्येक मनुष्य यद्यपि मरणधर्मी है तथापि वह अपनी जातीय भावसे अमर ही है।

“सभूति असभूति” के प्रकरणमें यह उपदेश है कि सघभाव और व्यक्तिभावका समविकास ही आवश्यक है, वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सघशक्तिके ऐसे नियम बनाने चाहिये कि जिनसे किसी एकका घात न हो और दोनोंका समविकास होकर सबकी यथायोग्य उन्नति हो सके। तत्त्वज्ञानके अध्यायमें सघधर्म और व्यक्तिधर्मका अवश्य विचार होना चाहिये। व्यक्तिका जाति और राष्ट्रके साथ कैसा वर्ताव होना चाहिये, तथा जातिका अथवा राष्ट्रका व्यक्तिके साथ कैसा वर्ताव होना योग्य है इसका योग्य उत्तर इस प्रकरणमें पाठक देख सकेंगे।

जिस प्रकार ज्ञानक्षेत्रमें आत्माका ज्ञान और जगत्का ज्ञान साथ साथ आवश्यक है, उसी प्रकार कर्म क्षेत्रमें व्यक्तिके और समूहके कर्मोंका और परस्पर सबधोंका विचार होना चाहिये। वही विचार इस प्रकरणमें किया गया है। प्रथम मन्त्रके साथ इन प्रकरणोंका विचार करनेसे यह भाव स्पष्ट हो जाता है। यह अर्थ अतर्गत प्रमाणोंके विचारसे होनेके कारण अधिक संयुक्तिक है।

इस अर्थमें भाष्यकारोंके अर्थ आ जाते हैं। परमाणुसघका नाम सृष्टि है और विस्तार हुए अलग अलग विभक्त परमाणु होनेसे वही मूल प्रकृति है। अर्थात् परमाणुओंका सघ “सभूति” शब्दसे भाष्यकारोंने लिया है, और परमाणुओंकी विभक्त स्थिति “असभूति” से ली है। अर्थात् “सघभाव और असघभाव” ये

अब आपसकरोसे भी बनी हुई है । यदि यही मूल अर्थ किने जायें तो अर्थका मोरब अधिक होना । इसका पाठक जो अधिक विचार करें ।

(१८) द्वैतवाद और अद्वैतवाद

तत्त्वज्ञानका विचार करनेके समय द्वैतवाद और अद्वैतवादका विचार होना आवश्यक है । और उपनिषदोंका विचार होकरके समय इस बातको ध्यान में रखा जा सकता है । तथापि सांप्रदायिक दृष्टिकोणसे दूर रहकर ही विचारों पाठकोंके विहित है ऐसा हमारा विचार हो रहा है । इस बातको सांप्रदायिकोंमें इसका अर्थ है कि उत्तर अब और अर्थमेंसे कोई काम होना नहीं है ।

वास्तविक द्वैत है या अद्वैत है इसका विचार करने समय अनुमानों की भी अंतिम कड़ी की भाँती जाननी तो निम्न प्रकार मालूम पड़ता है—

आत्मा के अवस्थाएँ	(१) दुर्गा	अज्ञेयस्थिति] अद्वैत अनुमान	३
	(२) सुषुप्ति	निर्विकल्प समाधि		
	(३) जाग्रत	व्यवहारस्थिति] द्वैत अनुमान	४
	(४) प्राप्ति	उपासनाकी अवस्था		

आत्मा की चार अवस्थाएँ हैं । चारों ही अवस्थाओंमें द्वैत अनुमान है और सुषुप्ति की अवस्थाओंमें अद्वैत अनुमान है । प्रत्येक अनुमानों इस चारों अवस्थाओंका अनुमान है । यदि आत्मा की चारों अवस्थाएँ हैं तो द्वैत भी है और अद्वैत भी है । पाठकोंसे कहा मिलेगा कि वे सांप्रदायिक दृष्टिकोणों में न जायें । उपनिषदोंमें और वेदों में भी वे आत्मज्ञानके संज्ञान नहीं हैं । वेद कहता है कि आत्मा की अनुसंधान अधिक उत्तम चार अवस्थाओं द्वारा अनुमानों जाती है । यही “अनुष्ठाद् आत्मा” है । वेदों आत्मा के चारों पक्षोंका वर्णन कर स्वात्मों है । दो चारोंमें हम द्वैत अनुमान कर रहे हैं और अन्य दो चारोंमें अद्वैत अनुमान के रहे हैं । प्राप्ति और स्वप्नके अनुमानों विहित द्वैत

ज्ञान है । 'मैं' और 'मैं-नहीं' ये दो पदार्थ इन दो अवस्थाओंमें हैं । 'मैं, तू, वह' इत्यादिका अनुभव इनमें आता है ।

एकत्वका अनुभव

सृष्टि और तुर्याका अनुभव द्वैतका निश्चयसे नहीं हैं, परन्तु "एकत्व" का है । निश्चित एकत्वका है इस विषयमें किसीको शका हो तो वह "अ-द्वैत" का अनुभव मान सकते हैं । उस अवस्थामें "द्वैत" का अनुभव निश्चयसे नहीं होता है, परन्तु "एक" का अनुभव होता है वा नहीं यह प्रत्येक मानव नहीं कह सकते । जो कुछ अनुभव है वह शब्दोंमें प्रकट नहीं किया जा सकता, शब्दोंकी गति वहां नहीं है । वहां ऐसा अनुभव है कि जिसका वर्णन द्वैतवाचक शब्द नहीं कर सकते ।

वास्तविक द्वैत और अद्वैतका भाव यह है । जिस समय मतमतांतर चल पड़ते हैं उस समय बड़े झगड़े खड़े होते हैं । उनसे हमें कोई वास्ता नहीं है । आत्मा-की चार अवस्थाएँ होनेके कारण, द्वैत और अद्वैतका अनुभव होनेके हेतुसे, सर्वत्र द्वैतप्रतिपादक भी मन्त्रोंके साथ साथ अद्वैत प्रतिपादक भी मन्त्र हैं । श्रीमद्भगवद्गीतामें देखिये कई श्लोक शुद्ध द्वैतका प्रतिपादन कर रहे हैं, तो कई ऐसे हैं कि जो शुद्ध अद्वैत विचार ही बोल रहे हैं । यही बात उपनिषदोंमें है । वेद मन्त्रोंमें भी यही प्रकार है । ऐसा होनेका हेतु ऊपर दियाही है । बहुत लोग इस मूल कारणको ध्यानमें नहीं धरते और कहते हैं कि, प्रथममें प्रक्षेप है, दूसरे कई समझते हैं कि एक प्रकारके मन्त्र मुख्य हैं और दूसरे गौण हैं । कई लोग अन्य रीतिसे खेँचातानी करके किसी न किसी प्रकार निर्वाह करनेकी चेष्टा करते हैं और स्वमतकी स्थापना करते हैं । परन्तु ऐसा करनेसे प्रथका सच्चा आशय-यानमें नहीं आ सकता ।

उक्त कारणसे ही अद्वैती लोग द्वैत प्रतिपादक मन्त्रोंको खींचते हैं और द्वैती लोग अद्वैत-प्रतिपादक मन्त्रोंको खींचते रहते हैं । परन्तु उक्त रीतिसे यदि ये लोग वास्तविक बातको समझेंगे, तो खेँचातानीका कारण ही नहीं रहेगा ।

इस वस्तु अ. ४ में यदि देखा जायगा तो वास्तविक ऐतिह्ये सात्त्विक मंत्रके सिवाय कबही अन्य मंत्र हैत प्रतिपादक ही हैं । अन्तरे मंत्रका वाक्य निम्न प्रकार है “ अथ अस्त्यामै वयं मृतमात्र आरमाही हो वने वत अस्त्यामै एष्टवका अनुमय करेवाके विधानो को कोष्ठ और मोह को हो सकते हैं । ” (रा. घ. ४. १०) यह एक अस्त्यामै एष्टवका अनुमय होता है और वही हेतुसे वही वाक्य मोह नहीं बाधा करते । पूर्वोक्त कोष्ठमें ‘ब्रह्मणि समाधि और बीजमुक्ति ’ की वा अस्त्या वतार्थ है, वयं अस्त्यामै वयं अनुमय है । वहां मोह दर्शन नहीं होता है । परन्तु वार अस्त्यामैमै यह एक अस्त्या है । ब्रह्मणि समाधि और मुक्तिमें प्रत्यक्षता होती है ऐष्टव अन्य आधिक्य वस्तुमें कहा है । वहां “ वयं-सम-वयं ” सम्म महत्त्वपूर्ण है । वयंके रूपके वरुण वचना है । इसी प्रकार “ वयं मृतमात्र आरमाही हो अन्तेकी अवस्था ” है । अस्त्यामै वार पार्थिवि किंच पादकी अस्त्यामै वयं अनुमय हो सक्त है यह बात इस समयकके वर्णको स्पष्ट हो चुकी है । इसलिये इस विषयमें वहां और अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । वार पार्थिविसे किन्ती एक वाक्य अनुमय वयं पार्थिवि अनुमयको वयं नहीं कर सक्त इसकीही बात वहां व्याख्यामें बरती जायिये ।

इस मंत्रके सिवाय वयं अन्य मंत्र एवही हैत प्रतिपादक है । वयंके विषयमें कितीको भीर्द वंश नहीं हो सक्ती ।

सारांश

इस प्रकार इष्टोपनिषद् अथवा यजु. अ. ४ के विषयोंकी सम्यक्बोचना है । इस पुस्तकमें होनी संहिताओंके पाठ दिने है और स्वीकारमें वयंमंत्र अन्य वयंविषयके वयं तथा वयंमंत्रोंके कोष्ठोंकी तुलना की है । इससे वैदिक वर्णके वरुण विचारोंके साथ वरुण अथवा वयं परीक्षित हो जायये ।

आशा है कि इस प्रकार तुलनात्मक विचारने वैदिक वास्तविक वर्ण समग्र, आत्मज्ञानविषयक वैदिक वयं सिद्धांत वाक्य, वरुण अथवा वयं विचारों मार्ग आत्मन्य करकेके विवेचि मित्र होने ।

विवेक

श्री० बा० सातवसंकर



ॐ

वाजसनेयि-माध्यदिन-शुक्ल ।

यजुर्वेद-संहिता-पाठः ।

अथ अत्वारिंशोऽध्यायः

ईशा वास्यमिदं सर्वं पस्वि न अगत्या अगत् ।
 तेन त्यक्तेन ब्रह्मीया मा शृणुः कस्य सिद्धनम् ॥ १ ॥
 कूर्वेभेदे कर्माणि विधीविशेष्यतय समाः ।
 एवं स्वयि नान्येतोऽस्ति न कर्म विष्यते नरे ॥ २ ॥
 असुर्या मामु ते श्लोकऽ अन्धेन समसावृताः ।
 तस्ते प्रेत्यार्षि गच्छन्ति ये के चात्महनो बर्नाः ॥ ३ ॥
 अनेब्रह्मं मनसो बर्हिदो नेनेदेवाऽ आमुबन्पूर्वमर्थेत् ।
 तद्वारतोऽन्यानस्वेति विष्टतस्मिन्मपो मातुरिषा ब्रूयाति ॥ ४ ॥
 तद्वज्रति तद्वैज्रति तद्वरे तद्वन्तिके ।
 तद्वन्तरस्व सर्वस्य तद्व सर्वस्यास्य वाद्यतः ॥ ५ ॥
 पस्तु सर्वाणि भूतान्वात्मन्युपपश्यति ।
 सर्वभूतेषु चात्मानं श्रुत्वा न वि बिभ्रिस्त्विति ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकऽ एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरथ शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्वय-

दधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।

ततो भूयऽइव ते तमो यऽ उ सम्भूत्यां रताः ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादुन्यदाहुरसम्भवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

अन्ध तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूयऽ इव ते तमो यऽ उ विद्यायां रताः ॥ १२ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्यायां अन्यदाहुरविद्यायाः ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभयं सह ।

आविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

वायुरानिलममृतमथेद भस्मान्तं शरीरम् ।

ओ३म् कर्तो स्मर । क्लिवे स्मर । कृतं स्मर ॥ १५ ॥

अप्रे नर्बे सुपयो रायेऽमस्मान्विधानि देव वपुनानि विद्वान् ।
 अयोधुस्मस्तु हुराणमेनो मूर्यिष्ठा ते नर्मऽरुक्ति विषेम ॥१६॥
 'द्विरभ्ययेन पात्रेभ सत्यस्यापिहितं मुक्तम् ।
 सोऽसावावित्ये पुष्ट्यः सोऽसावहम् ।
 आश्म ल मद्य ॥ १७ ॥

॥ इति अन्तर्निर्दिष्टोऽध्यायः ॥

ॐ

शुक्ल-यजुर्वेदीय

काण्व-संहिता-पाठः ।



अथ चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशा वास्यमिदं सर्वं यात्किञ्च जगत्यां जगत् ।
 तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य सिद्धनम् ॥१॥
 कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः ।
 एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरैः ॥२॥
 असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
 तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥
 अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत् ।
 तद्वावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपा मातरिश्वा दधाति ॥४॥
 तदेजति तन्नैजति तदूरे तद्वन्तिके ।
 तदुन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥
 यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
 सर्गभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

यस्मिन्सर्वोपि मृतान्यात्मैवामृद्विज्ञानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

स पर्येगान्कुरु कर्मकायमन्त्रचर्मस्नाविरश्च कुरु मर्मापविद्धम् ।

कृषिर्भिनीपी परिभूः स्वयम्भूर्यावातप्यतोऽर्थात् व्यदभाष्ठा-
श्रुतीभ्यः समाम्यः ॥ ८ ॥

अन्व तमः प्र विंशन्ति येऽविधामुपासते ।

ततो भूर्य इव ते तमो य उ विद्यामार्ध रुवाः ॥९॥

अन्यदेवाहुर्विधयाऽन्मदाहुरविधया ।

इति शुभ्रम् भीराजो ये नस्तद्विचक्षिरे ॥१०॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोमर्षं सह ।

अविधया मृत्युं तीर्त्वा विधयाऽमृतमश्नुते ॥११॥

अन्व तमः प्रविशन्ति यऽसंस्मृतिमुपासते ।

ततो भूर्य इव ते तमो य उ सम्मूर्त्या रुवाः ॥१२॥

अन्यदेवाहुः संस्मृत्वाऽन्यदाहुरसंस्मृतात् ।

इति शुभ्रम् भीराजो ये नस्तद्विचक्षिरे ॥१३॥

सम्मूर्तिं च विनाशं च यस्तद्वेदोमर्षं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्मूर्त्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मृतम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पूषन्नेक ऋषे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्त्समूह तेजो
यत्ते रूपं कल्याणतम तत्ते पश्यामि ।

योऽसासौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं मस्मान्तं शरीरम् ।

ॐ३ क्रतो स्मरं कृतं स्मरं क्रतो स्मरं कृतं स्मरं ॥१७॥

अग्ने नयं सुपथा राये अस्मान्निश्चानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोष्यस्मर्जुहुराणमेनो भूर्यिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

॥ इति चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

५ ओम्	हे सर्व-रक्षक !
शान्तिः	(वैयक्तिक) शान्ति,
शान्तिः	(सामाजिक) शान्ति,
शान्तिः	(सासारिक) शान्ति,
	(सर्वत्र स्थिर हो ।)

(५) शान्ति = शांतता, समता, विषमताका अभाव । “ (वैयक्तिक) शांति = व्यक्तिके शरीरमें समता, सप्तधातुकी समानता, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सर्वमें वैषम्यका अभाव, उत्तम निर्दोषता, उत्तम आरोग्य इत्यादि । “ (सामाजिक) शांति = ” समाजमें सब धर्मों तथा सब जातियोंमें समता और अविरोध । “ (सांसारिक) शांति = ” भूमि, जल, अग्नि, वायु, भूकम्प आदियोंमें निर्भयता, अथवा इनमें हानेवाली आपत्तियोंसे बचाव करनेकी यथा-संभव उपाययोजना करके शान्ति का स्थापना करना ।

भाचार्य— साधक जीव जगत्में समबुद्धिसे रहे, पूर्णका ध्यान करता हुआ वह स्वयं पूर्णत्वको प्राप्त करनेके लिए पुरुषार्थ करे । इसमें वैयक्तिक शांतिका अभिप्राय यह है कि अपने ही शरीरमें, सब आत्मिक और प्राकृतिक शक्तियोंके बीचमें स्वस्थता और समताको साधना, यही प्रथम पुरुषार्थ है । जाति, समाज, राष्ट्र अथवा मानव-समाज, इनमें समता और अविरोध स्थापना यह दूसरा पुरुषार्थ है, और सारे जगत्में शांतता उत्पन्न करनेके लिए कर्तव्यकर्म करना यह तीसरा पुरुषार्थ है प्रत्येकको अन्तिम सिद्धि द्वारा क्रमशः जीवनमुक्ति, मुक्ति और अतिमुक्ति मिलती है ।

ॐ

ईशा उपनिषद्

आत्म-ज्ञान

(१) परमोद्यतिक्य मार्ग ।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यस्थिञ्ज जगत्स्य जगत् ।

१ ईशा वास्य इदं सर्वं ईशासे व द्देष्टाऽदृष्टस्य है ।
 २ यत् किञ्च जगत्स्य जगत् ओ कुछ जगतीमें जगत् है ।

(१) ईशा=स्वामी भूम्भु ईश्वर, निरामन्त्र ज्ञाता परमात्मा ब्रह्म पर ब्रह्म । 'वास्य' = (वस्) = रहना होना प्रतीत होना परिभाल करना ओढना आच्छादन करना स्थिर करना प्रीति करना सेवा स्वीकारना अर्पण करना । 'ईशा वास्य' = स्वामीके वचनेसे स्वामी होकर ब्रह्मे जायक । ईश्वरसे ओढा हुआ वस्त्र आच्छादित हुआ हुआ । देवके द्वारा प्रीतिसे दिया हुआ । इशा वास्य इदं जगत् । अतएव निरामन्त्रके द्वाराही रहनेसे जगत् जायक है । परमत्र गुणम भवे हुएके रहनेवाला यह जगत् नहीं है ।

(२) जगत् = दिक्मेवाका, वस्तुमेवाका चैवक अस्तिर जगत्, मनुष्य । जगती = वस्तुमेवाकी छवि विश्व, मन्त्र-वाणि । जगत्स्य जगत् = जिस परिवर्तनशील जगत् समुदायमें वस्तुमेवाका एक पदार्थ । अनेकमें एक; एकमें अनेक जगतीमें अनेक; मन्त्रवाणियों एक मनुष्य, वाणियों एक ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः, कस्य स्वच्छनम् ॥ १ ॥

- | | |
|----------------------------|------------------------------|
| ३ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः । | उसका दानसे उपभोग कर । |
| ४ मा गृधः । | लोभ मत कर । |
| ५ कस्य स्वित् धनम् ? | किस एक व्यक्तिका भला धन है ? |

३ त्यक्त = त्यागा हुआ, दान किया हुआ, धर्मके लिए समर्पित किया हुआ । भुञ्जीथा = (भुज्) = भोगना, खाना, उपभोग करना, स्वयं अपने लिए उपयोग करना, अपने अधिकारमें रखना, शासन करना, अपनासा कर लेना । त्यक्तेन भुञ्जीथाः = दान करके भोग कर, दान देकर अवशिष्ट रहे हुएका उपभोग कर; जगद् उपकारके लिए समर्पण करना ही अपना वास्तविक उपभोग है ऐसा समझा ।

(४) मा गृध = अपने अधिकारमें जो जगत्का भाग आया हुआ हो, उसका भी लोभ मत कर, उसका उपभोग करना हो तो दान करके कर । दूसरेके पदार्थका लोभ तो कभी भी मत कर ।

(५) स्वित् = शका, आश्चर्य, ठीक है क्या ? भला ? कस्य स्वित् धनम् ? = भला धन किस एक व्यक्तिका है ? धन मेरे अकेलेका है ऐसा माननेवाले लोग मृत्युके समय धन छोड़कर चले जाते हैं; अतः धन किसी एक व्यक्तिका नहीं है यह बिलकुल सत्य है । तो यह किसका है ? इसका उत्तर कस्य धन = (क) प्रजापतिका धन है । प्रजापालन करनेवालेका धन है, अथवा सर्व जनताका धन है, क्योंकि व्यक्तिके मरनेपर भी समाज अमर रहता है, अतः सब धन सब जनताका है और जनताका है इसी लिए व्यक्ति उसे जनताके अभ्युदयके लिए अर्पण कर अवशिष्ट रहे हुएमेंही सत्पुत्र होकर उसका भोग करे । सब धन सम्पूर्ण जनताका है । वह किसी भी एक व्यक्तिका नहीं है, अतएव व्यक्तिकी धनका लोभ छोड़ देना चाहिए और सबके उपकारार्थ उसका व्यय करके जो कुछ शेष बचे, उससे अपनी जीवनयात्रा चलानेके लिए उपभोग करना चाहिये ।

इहमेवेह कर्माणि विधीयिष्यन्तः समाः ।

६ इह कर्माणि कुर्वन् एव, । यहाँ प्रशस्त काम करता हुआ ही
७ ध्रुवं समाः जिह्मिषिषत् । सा वप अग्निहोत्री इच्छा करे ।

(६) कर्म = ब्रह्मज्ञानम कर्म वेद पुरुषार्थ उत्पन्न-संपत्ति-दानप्रत्यक्ष-
कर्म ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति के कर्म को उत्पन्न-प्रत्यक्ष उत्पन्न कर्म । अर्थात् =
अर्थात् ही उत्पन्न के हैं- (१) जो किने हुए जीव किए हुए के बराबर हैं और
विनाशित अस्तित्व के किनेही केवल जीव उत्पन्न हुए हैं वे । (२) निष्कर्म कर्म =
विष्कर्म = विष्कर्म कर्म अर्थात्-विष्कर्म अर्थात् और उत्पन्न की उत्पत्ति उत्पन्न के कर्म ।
ये कर्म के तीन भेद हैं । इस भाग में पहिला अर्थ निश्चित है । इह = यहाँ
इह अर्थात् ।

(७) शायं समाप्त २० ती वष इच्छावाधि कल्प्य होये वास्तव्ये ती
 चालन कर्मात् वषि २ वर्षेधी आत्तुने इच्छावाधि प्रकट होती है, ऐसा मान
 है तो तबत ही तबत बौद्धिक इच्छा प्रकटपूर्वक को, इस प्रकार १२ चालकी
 प्रकटकी आत्तु होती है । अत एव ज्योतिष्य बभित्तवर्त्तने की मान थीकम्प है ।
 इतना पूर्व आत्तु प्रकट करनेधी प्रकटपूर्वक इच्छा रक्खी चाहिये, ऐसा कपवेत्त
 कहा कर है । 'भेटीय कल्प' धाविर्त्तने धाव धेवात और बभित्त
 स्थितिमें धावेवालीको बाल ने तीन कर्म बर्द्धी मुक्त है । इस कल्प बर्द्धारा
 बभित्तवर्त्तन मेक तब बभित्त होती है । तब बभित्तवर्त्तन यही ज्येव है । एव बभ
 ऐसे ओककर्मइच्छावर्त्तन होयेते ऐसे ओककर्मइच्छावर्त्तन प्रकट कर्मक किए अपने
 वास्तव्ये कल्पक प्रकट करना कपवेत्त किए बभित्त है । (१) बभित्तवर्त्तने बभित्तवर्त्तन
 (२) बभित्तवर्त्तन (३) बभित्तवर्त्तन कल्प, (४) भूभित्तवर्त्तन बभ
 और (५) भूभित्तवर्त्तन बभित्तवर्त्तन कल्पपूर्वक प्रयोग, ये तीन मेक
 (६) कर्म प्रकट कल्पवर्त्तने किये करव आत्तवर्त्तन है ।

एवं त्वयि, नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

८ एव त्वयि,	यह (ज्ञान) तेरेमें (हो),
९ इतः अन्यथा न अस्ति ।	इससे दूसरा (मार्ग) नहीं ।
१० कर्म नरे न लिप्यते ।	कर्म नरको दूषित नहीं करते ।

(८) एव त्वयि = यहातक जो सात उपदेश कहे, वे तुझ जैसे साधकमें स्थिर हों ।

(९) इतः अन्यथा नास्ति = उष्णतिके लिये इसके सिवाय भिन्न मार्ग नहीं है ।

(१०) नर = (न रमते) जो भोगोंमें रमता नहीं वह । कर्म नरे न लिप्यते = जो भोगोंमें फस कर अपने कर्मोंसे च्युत नहीं होता, ऐसे मनुष्यको कर्मोंसे होनेवाला दोष नहीं लगता ।

[सूचना - यहातक जो आत्मोन्नतिका मार्ग कहा है वह यह है -

“(१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व मानते हुए, वह हमारे कर्मोंको देखता है ऐसा मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके सुखमें व्यक्तिका सुख है ऐसा मानना, (३) दान करके बचे हुका स्वतः भोग करना । (४) लोभ न करना, (५) सब धन सुझा अकेलेका नहीं है पर वह सब प्रजाका है ऐसा मानना, (६) इसी एक आत्मोन्नतिके मार्गपर दृढ विश्वास रखना, (७) उद्धारका इसके सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है ऐसा मानना, (१०) सत्कर्म कभी बन्धन नहीं करते ऐसा मानना” । इस मार्गपर चलकर अपने जीवनको सार्थक करनेवाले लोग “समर्थ” बनकर जगत्में आदर्शभूत बनते हैं और धनसे मुक्त होकर अन्तमें उस स्थानको जाते हैं, जहाँ कि आत्मोन्नति करनेवाले लोग जाते हैं । परन्तु इस मार्गको न स्वीकारते हुए जो लोग आत्मघातके मार्गसे जाते हैं, उनकी क्या दशा होती है, इसको तीसरे मन्त्रमें देखिए ।]

(१) आत्मघातका मार्ग ।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा कृताः ।

११ असुर्या नाम ते लोकाः । बलके छिप प्रसिद्ध ऐसे ये लोग
अन्धेन तमसा आवृताः । ताह अंधकारसे व्याप्त हैं ।

(११) असुर्य - असुर्य = 'असुर' अर्थात् प्रज । यह प्राणी
सृष्टि के जो (रा-वेला) रण है वह असुर्य है । वह असुर अर्थात् वेदों
आत्मा परमात्मा ईश्वर, का शत्रु है । अतः इसकी जो प्राणशक्ति है
उसका नाम असुर्य है । प्राणियों की प्राणशक्ति सेनावाले इसकी प्राणशक्ति
यह इसका अर्थ है । वह शक्ति किसी वेदों किसीही राक्षसों में आर उठी सज्ज
में किसीही दुर्बलों में रहती है । प्रत्येक क्षण में जो वह है वह इसी शक्ति से
कारण है । क्षीर में प्राणशक्ति के नीचे का इन्द्रियशक्ति और क्षीरशक्ति कार्य
कर रही है वह इसी असुर्य शक्ति के कारण है । इससे स्पष्ट हुआ कि 'असुर्य'
अर्थात् 'इन्द्रियों और क्षीर में कार्य करेवाले वह । इससे जो भिन्न है वे
जातपले दुष्ट हैं, और वे प्राणों में उत्पन्न हैं वे मानसिक श्रेष्ठ और
अध्यात्मिक शक्तियों द्वारा प्रकट होते हैं । बुद्धि और मन में जो वैतन्य सामर्थ्य
प्रकट हुआ है वह इस असुर्य नामक वस्तु से भिन्न है । असुर्या नाम
ते लोकाः = केवल जो शारीरिक बलके छिप प्रसिद्ध हैं ऐसे जो
लोका हैं वे शारीरिक बल विज्ञान रण विचार करना मारपीट करना
आदि व्यवहार के लिए प्रसिद्ध हैं । उक्त शब्द का मानवीय बल आकर्षण
आदि शक्ति सम्पन्न होने की क्षमता इसमें नहीं है । यद्यपि इनके शारीरिक बल
व्याप्तिके ही कारण हुए हैं तथापि वे अपने अज्ञान के कारण असमर्थता में पड़े
होते हैं, अतएव अन्धेन तमसा आवृता = वे लोग अज्ञानान्ध
कारणसे व्याप्त हुए हुए हैं = ऐसा स्पष्ट कहा है । "ये के व आत्म
हन्ता जना ते ताह प्रेक्ष्य आसि (अपि) पचच्छक्ति । = जो कोई

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनः ॥३॥

ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति | वे मृत्युके घाद उनमें जाते हैं
ये के च आत्महनः जनाः | जो कोई आत्मघाती जन हैं ।

आत्मघाती जन हैं, वे वैसे मूर्ख लोकोंमें मरनेके घाद भी जाते हैं; अर्थात् उनकी जीतेजी भी इन लोकोंमें गणना होती है । 'जन' = जन अर्थात् केवल प्रजनन करके किसी भी सतति उत्पन्न करनेमें ही जो समर्थ हैं, जिनसे इसी अपेक्षा अन्य कोई प्रशंसनीय मानवीय कर्तव्य होना समभव नहीं है । ये जन आत्मोन्नतिको पुरुषार्थ करनेमें अवमय हैं और इनके कष्ट होनेसे इनसे यदि कोई कार्य ही भी गया, तो वह आत्माकी अवनसिका ही होता है, इसलिए इन्हें यहां आत्मघातकी कहा गया है । पूर्वके दो मन्त्रोंमें जो मार्ग बताया है, उस आत्मोन्नतिके मार्ग का अवलम्बन न करते हुए, उनके विरुद्ध आत्मघाती मार्गोंकाही ये अवलम्बन करते हैं ।

आत्मघातका मार्ग यह है—

“(१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व न मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके आधारसे व्यक्ति स्थित है ऐसा न मानकर व्यक्तिका यथा समभव स्वार्थ बढ़ाते हुए, उससे सघके नाशके लिये कुकर्मोंको करते रहना, (३) स्वार्थपूर्वक भोग करना, (४) लोभ करना, (५) सब धन केवल मेराही है ऐसा मानना, (६) सदा कुकर्म करना, (७) जिनसे आयु क्षीण हो ऐसे हीन कर्म करते जाना, (८) एक सन्मार्गपर मनको स्थिर न रखना, (९) विपरीत मार्गोंपर विश्वास रखना, (१०) सत्कर्म भी बधक हैं ऐसा मानना । ”

ये दश प्रकारके मार्ग आत्मघातके हैं । इन मार्गोंसे जो जाता है वह किस प्रकारसे अधोगतिको प्राप्त करता है यह बात इस मन्त्रने दिखलाई है ।

(१) आत्म-तत्त्वका वर्णन ।

अनेकवेक मनसो अभीया

१२ एक, अन्-एकत्,
पूर्व, अष्टत्,
मनसः अभीया ।

यह एक अनेकसुतारहित
सबसे पुण्यतम स्फूर्ति देनेवाला
मनकी अपेक्षा देगावाह है ।

[प्रथम मंत्रमें ईश सर्वत्र वसता है, ऐसा कहा है वस्तु यह एक है अथवा अनेक ? और वस्तु क्या सामर्थ्य है ? इस विषयमें कुछ नहीं कहा है । यद्यपि यहाँ 'ईशा' ऐसा एकवचनका प्रयोग है, तथापि यह संदेह हो सकता है कि कदाचित् यह वातिवाचक एकवचन हो; अतः उपरान्त संज्ञाको यह करनेके लिए इस मंत्रमें यह एक ही है, ऐसा बहुर वचने पुनोक्त वर्णन किया है । ये तुम इस प्रकार हैं—] एवं = यह पूर्व प्राप्त एक है अनेकत् = यह श्रद्धा नहीं जगति यह स्थिर है । यह सर्वत्र व्याप्त होनेसे इतर तरफ नहीं जाता यह संयम नहीं है । पूर्व = यह वचने पूर्वप्र है । अन्त् निर्माणके भी पूर्व यह वा । अष्टत् = (अष्ट = अति) अनेको गति देनेवाला है स्फूर्ति देनेवाला है, यह आत्मक प्रेरक और निरीक्षक है । मनसः अभीया = यह मनकी अपेक्षा देगावाह है । अस्मा बुद्धि, मन प्राण इन्द्रियाँ और शरीर इस वचने देखें तो प्रथमकी अपेक्षा दूसरेमें गति कम और तीसरेमें वचने भी कम इस प्रकारसे गति कम होती जाती है । इसलिये यह वचने अस्मा हो तीन शरीरों वाले होनेसे वचने भी अधिक देगावाह है । मन संयम है, वा मन विचका मित्रन करता है यहाँ यह प्राप्त पूर्वप्रती व्याप्त होनेसे वचने पूर्व यह सर्वत्र कहा हुआ है । [मनसे यह अस्मा देगावाह होनेसे मन वचने प्राप्त नहीं कर सकता यह बात स्पष्टही है, परन्तु इतर दोष (इन्द्रियाँ) वचने प्राप्त कर सकते हैं वा नहीं ? इस वचनका उत्तर इस प्रकार है—]

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।

तद्भावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्

१३ देवाः एनत् न आप्नुवन्	इन्द्रिया इसे प्राप्त नहीं करती ।
१४ तत् तिष्ठत् धावतः अन्यान् अत्येति ।	वह स्थिर होता हुआ दौड़ते हुए दूसरोंके आगे जाता है ।

(१३) देवा एनत् न आप्नुवन् = देवोंके तीन क्षेत्र हैं । 'व्याक्तिगत देव' व्याक्तिमें आस, कान आदि इन्द्रिया देव हैं । ये इन्द्रियां बाहिर्मुख होनेसे इन्हें अन्तरात्माका दर्शन होता नहीं । 'मानव-समाजस्थ देव' = ज्ञानी (शब्द शास्त्री), शूर, व्यापारी, कारीगर, ये मनुष्य-समाजमें देव हैं । ये व्यवहारमें जुटे रहते हैं अतः इन्हें भी परमात्म-साक्षात्कार नहीं होता । " जगत्तम स्थित देव " = अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य आदि देव जगत्तम हैं । वे भी ब्रह्म साक्षात्कारके अधिकारी नहीं हैं । इस प्रकार ये तीनों क्षेत्रोंके देव अन्तरात्माको पा नहीं सकते । व्यवहारमें न फसते हुए जो वधनसे छूटता है, व निःसंग वृत्तिमें रहता हुआ उस परमात्माके लिए आत्मसर्वस्वका समर्पण करता है वही सन्त उसे प्राप्त कर सकता है ।

(१४) " तिष्ठत् " = वह ब्रह्म स्थिर है । ऐसा होते हुए भी वह " धावत अन्यान् अत्येति " = दौड़ते हुए दूसरे पदार्थोंके भी पहिले गया हुआ होता है । व्यक्तिम इन्द्रियां दौड़ रही हैं, समाजमें मनुष्य भागदौड़ मचा रहे ह जगत्तम सूर्य, चन्द्राद नक्षत्र भी दौड़ रहे हैं । परन्तु ये सब जहाँ दौड़कर जाते ह, वहाँ पहिलेसेही ब्रह्म पहुँचा हुआ होता है । चाहे कोई कितना भी तज दौड़ता हो पर वह इस आत्मासे पूर्व पहाचनेके स्थानपर पहुँच नहीं सकता । [दूसरे मन्त्रम " प्रशस्त कर्म करते हुए सौ वर्षतक जीनेकी प्रयत्न-पूर्वक इच्छा करनी चाहिए " ऐसा कहा है । परन्तु इसपर ऐसी शका उठती है

तस्मिन् मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

१५-तस्मिन् मातरिश्वा वप दधाति ।	उसके माथारसे माताके (गर्भमें) रखनवाभा (जीव) कर्मोंका धारण करता है ।
------------------------------------	---

जि जन्तुके जो कर्म होवे वनका वन मरु हो वामेसे उस व्यक्तिमें नहीं मिलेगा और ऐसी दवामें बना वे उसमें कर्म स्पर्श पाएँगे । इसका तात्पर्य “ किए गए कर्म स्पर्श नहीं करते ” ऐसा अधिम संश्रमात्म्ये विना हुआ है, उसे जान नहीं देखिए—]

(१५) मातरिश्वा = माताके शरीरमें रहनेवाला जीव जिसका पूर्णता शरीर हूट गया है और जिसका दूसरा देह बन रहा है, वह माताके गर्भमें जाया हुआ जीव तस्मिन् वपः दधाति = उस प्रसूते माथारसे अपने कर्म धारण करता है । जिस प्रथम शरीरसे कर्म मिले वे वह पद्यमि मर हो गया और आगेका शरीर नहीं भी मिले, छे भी इसके पूर्व हूट गये हुए कर्म वह नहीं होते । परमेश्वरके नियन्त्रणमें स्थिर स्थितिमें वे कर्म उत्पन्न करने आत्माके पास रहते हुए जीवके अपने जुरे भोग देते ही हैं । [अथवा ब्रह्मन्प्राप्य कर्माणि सर्वं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते स स पापेन० । (म पी ५१) ब्रह्मके समर्पण करते हुए जातचित्तिहो कर्म जो करता है, वह पापमें मुक्त हो जाता है । इस जीवके नव्यनुधार भी इस संश्रमात्म्य धर्म हो उत्पन्न है । तस्मिन् वपः मातरिश्वा दधाति = उस प्रसूते कर्म समर्पण करते हुए जो जीव कर्म करता है (वह पापों वह नहीं होता) । हमने संश्रमों में नर कमसे स्थित होता नहीं = ऐसा कहा है वह जिस प्रसूते ! वह इस संश्रम्यमे विज्ञाया है ऐसा कहा सम्यक् ज्ञानवा आदिह ।] इस संश्रमों में सब अनुकार आत्माका प्यन करवा आदिह । इस संश्रमात्म्ये पुनर्जन्मकी कल्पना ज्ञानमय विचार्य पर्य है ।)

मंदमति तक्षमति मनुजो मन्द-पक्षः ।

मदन्माम्प मर्मस्य मद् मर्मस्याम्प वाद्यतः ॥ ५॥

१३ मनु ० मति (मयमति) मरुति मयमति, मयमति,

१७ मनु न मयमति । मरुति मयमति मयमति ।

१८ मनु मरुति मरुति मरुति मरुति ।

१९ मनु ३ मरुति । मरुति मयमति मयमति मयमति ।

२० मनु मयमति मयमति मयमति : मरुति मयमति मयमति ।

२१ मनु ३ मयमति मयमति मयमति : मरुति मयमति मयमति ।

(१३-१७) मनु ३ मरुति मयमति मयमति मयमति ।

(१८) मनु मयमति मयमति मयमति मयमति ।

(१९) मनु न मयमति मरुति मयमति मयमति मयमति ।

(२०-२१) मनु मरुति मनु न मयमति मरुति मयमति मयमति ।

(२०-२१) मनु मयमति मयमति मयमति मयमति ।

(४) आत्माकी व्यापकता ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्वेवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ २४ ॥

२२ या तु सर्वं हि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति ।	आ वास्तवमें सब भूतोंको आत्मामें अनुभवमें देखता है
२३ सर्वभूतेषु च आत्मानं अनुपश्यति ।	(और) सब भूतोंमें आत्माको अनुभवमें देखता है (वह)
२४ तत न विजुगुप्सते ।	किमीका तिरस्कार नहीं करता

[एक ही संसारमें जो ईश्वरके गुणोंका वर्णन किया है वह वेदके प्राप्ति के बादके सिद्धे नहीं है । वह मनुष्यके स्वभाव और अचरकर्म आत्मा प्राप्ति के समय ईश्वर के ही और कार्यमें परित्यक्त होना चाहिए । वह आचरकर्म आत्मा के ही मनुष्यके ही समुद्दिष्ट हो के वे वह इच्छा में निश्चयी ।

(२२) याः भूतानि आत्मनि अनुपश्यति = आ मनुष्य इत्यादि हुए हुए सब पदार्थ निश्चयन एवं पर्यवेक्षण आत्माके अन्दर है ऐसा अनुभवसे विद्या पूर्वक ज्ञान, और १०१ अक्षर -

(२३) सर्वभूतेषु आत्मानं = सर्व भूतोंमें तब एक आत्माके अनुभवपूर्वक देखता है, वह सब भूतोंके अन्दर बाहर आत्माका प्रकाश-पूर्वक अनुभव न्यक्त रूप

(२४) तत न विजुगुप्सते = किसी भूतमात्रका तिरस्कार नहीं करता करने हुए इसे । अतः बहुतक समयमें नहीं जाता अपने निश्चयों कोई भी ईश्वर मन्त्रोंमें ही होता । (वाचस पाठ) 'ततो न विजुगुप्सते' = अपने ही अपने संसार नहीं करता । सर्व भूतोंके निश्चयों वह अतः अत्यन्त १ (अत्यन्त)

(५) सर्वत्र आत्मभाव ।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को माहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

२५ यस्मिन् विजानतः

आत्मा एव

सर्वाणि भूतानि अभूत्;

२६ तत्र एकत्वं अनुपश्यतः

कः मोहः ?

कः शोकः ?

जहां विज्ञानीका

आत्मा ही

सर्व भूत बन गया;

वहां एकत्व अनुभव करनेवालेको

मोह कैसा ? और

शोक भी कैसा ?

मनमें रखना है । उसकी सर्वत्र समष्टि होनी है । पूर्वके मंत्रोंमें वहां अनुभव अधिक दृढ़ होनेके पश्चात् 'सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें है,' इतनेही अनुभवपर स्थिर न रहता हुआ, ज्ञानामुक्त उससे ऊपरकी भूमिका पर जाकर सर्वत्र 'आत्मैकत्वकी माहिमा' प्रत्यक्ष करता है । यह अनुभव इस मंत्रने बताया है-]

(२५) वि+जानत् ' = विशेष रीतिसे जाननेवाला, देखनेवाला, अनुभव लेनेवाला, विशेष ज्ञानी । " विजानत " ऐसे ज्ञानीके लिए 'यस्मिन्' = जब, जिस समय, जिस अवस्थामें, जिस भूमिकापर पहुंच जानेके बाद, जो अनुभव मिला, वह है, आत्मा एव सर्वाणि भूतानि अभूत् ' = आत्माही सर्व भूत बने, आत्मस्वरूपकी सब विश्व भासने लगा, ऐसा जानकर अन्तमें यह जानना कि गामर्थ्य समर्थका निज ऐश्वर्य है और वह उससे भिन्न नहीं है । ऐसा जिसको ठीक अनुभव हुआ, उसमें सर्वात्मभाव स्थिर हुआ ऐसा समझना योग्य है ।

(२६) तत्र = वहां, उस अनुभव की अवस्थामें, ' एकत्वं अनुपश्यत ' = सर्वत्र एक आत्मतत्त्वका अनुभव लेनेवाले उस ज्ञानी मनुष्यको, ' कः मोहः, कः शोकः, ' = कौनसा मोह भ्रममें डालेगा और कौनसा शोक

(१) परमात्माके गुण-वर्णन ।

स पर्यगाच्छुद्धमकायमब्रजमक्षाविरः शुद्धमपापविद्धम् ।
कश्मिनीपी परिभू स्वयम्भूर्वायातप्यतोऽयान्

२७ स पर्यगात्, अकायं अक्षाविरं, अमर्षं शुद्धं, अपापविद्धं, शुद्धं; २८ कश्मिनी, मनीषी, परिभूः, स्वयम्भू ।	यह सर्वत्र व्यापक है । यह देह-रहित स्वाप्तु-रहित ब्रह्मरहित शुद्ध विष्णुप तेजस्वी (समर्थ), प्रष्टा वाता (मनका सामी), विजयी और कर्यशू है ।
---	--

जबकि शुद्ध अकाय करने- समर्थ होना । ऐसे ज्ञानीको मोह और दोष अथ यो
कह नहीं पहुँचा सकते, वे उसे छूती नहीं सकते । [ईश सर्वत्र है ऐसा
यौ ज्ञानम करने कहा है, अतः शुद्ध अथि स्वकीकरण इस अर्थमें करने किया
है और यह " शुद्ध अमर्ष वर्णन स्वयंभू, व्यवस्थापक है । एक यह मंत्र
बतला रहा है-]

(२७) स पर्यगात् = यह वाक्ता सब स्थानमें पहुँचा हुआ है,
सर्व व्यापक है यह सब जगता है सर्वत्र है । अ-कायं अक्षाविर, अमर्षं
= यह अक्षररहित है अतः यह वह आत्मा और मनसे रहित है । अ-पाप-
विद्ध = यह अपरोक्ष अक्ष नहीं है । शुद्ध विष्णुप है । शुद्धं, शुद्ध
= यह अविनाशनीय निजगत तेजस्वी और अमर्ष है ।

(२८) कश्मिनी = (कश्मिरवासी) उसे अनीमित्र काम है । अक्षयि
यो दीप्यन् है उसे देखता हुआ अक्षयि रोष मी देखनेवाला यह अक्षि है ।
मनीषी = मनको स्वाधीन रखनेवाला है । परिभू = अपने भेद

व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

(७) ज्ञानक्षेत्र ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

२९ याथातथ्यतः

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः

अर्थान् व्यदधात् ।

३० ये अ-विद्या उपामते

ते अन्ध तमः प्रविशन्ति ।

(उसने) योग्य रातिसे

अनादि कालसे सब

अर्थोंकी व्यवस्था की है ।

जो अनात्मज्ञानका (ही केवल)

उपासना करने हैं ।

वे ग्राह अधिकारमें जाते हैं ।

सर्व प्रभाव डालनेवाला । 'अथ-भू' = अपनी शक्तियोंमेंही स्थित होनेवाला, जिसमें दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है ए॥ वह आत्मा है ।

(२९) अः ' = विषय, प्राप्त करवाने साधन । 'शाश्वतीभ्यः समाभ्य याथातथ्यत अर्थान् व्यदधात्' = अनादि कालसे इन्द्रिया और उनका वस्तुओंका योग्य रीतिमें तथा व्यवस्थामें उभने जान बत कर रहा है । [पूर्वसे सात मर्मादिखाया ज्ञान अनुभवमें आत्मसात कर लेनेपर उस ज्ञानों भक्तकी योग्यता इस मन्त्रमें वर्णन लिए अनुमार हो जाती है । जीवात्मा परमेश्वरका अमृत पुत्र हानस, पूर्वोक्त प्रकाश आत्मशक्तिका विकास करके अपने पिताके समान होता है । परमपिता सर्व गुण पुत्रमें अवलोकित हुए हुए दिखने हैं । इन गुणोंका मनुष्यमें विकसित होनाहा उपसर्गकी अन्तिम सिद्धि है ।]

(३०-३१) 'विद्या' = ईश विद्या, ब्रह्म-विद्या, आत्म-विद्या, विद्या, 'अविद्या' = अनैश-विद्या, अनैम-विद्या [प्रकृत-विद्या, सृष्टिविद्या, 'जगद्विद्या'] अविद्या । प्रथम मन्त्रमें 'इशा वास्य इदं सर्वं जगत्' = ईशमें बसनेवाला यह सब जगत्' है ऐसा कहा है । यही ज्ञान अनुभवसे जानना है । यही मनुष्यका 'ज्ञानक्षेत्र' है । इसे जाननेके लिए 'इश' कोन है !

ततो भूय इह से तमो य उ विद्याया २ एता ॥ ९ ॥

२१ वे उ विद्यायां रताः । आ केषां आत्मज्ञानमे रमते हि,
उ ततः मूयः इव तपः । वे ता इत्यम मी मामो अधिका
अधिकारमे जाने हि ।

और अगात् कर्म है। इस दो धार्मिक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। ईसा और मनीषा (अज्ञान) इन दो परमार्थिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए ईश्वरी विद्या और मनीषा की विद्या अर्थात् ऐश्वर्य की विद्या प्राप्त करनी चाहिए। आत्मा का ज्ञान विद्या और अज्ञान के मिला अनन्तमात्र ज्ञान आविद्या है। अविद्या अर्थात् अज्ञान ज्ञानहीनत्व—यही क्योंकि मनुष्य को परमब्रह्मवाचक के अज्ञान के अज्ञान का विद्या वैशेष्य अज्ञान के भी आत्मन का विद्या। अविद्या के अन्तर्गत ऐश्वर्य कर्म होता है और अज्ञानविद्या के विनिवेश अर्थात् अज्ञान के विनिवेश विद्या होता है। इस लिए प म अज्ञान के अज्ञान के लिए इस दोनों विद्याओं को प्राप्त करना चाहिए। ये धार्मिक ज्ञान प्राप्त न करते हुए यदि कोई मनुष्य किसी ऐश्वर्य विद्या में रमेगा और अज्ञान की ओर अज्ञान करेगा तो अज्ञान के अज्ञान ही होगा कि वह इस समय अज्ञान का अज्ञान है।

(१०) आधिष्ठोपासक = धर्मविद्यावादी को केवल उपसक है।
जहाँत जी आत्मविद्या की ओर पूर्णतया दुर्लभ करके केवल सुखविद्या के प्रति
लगे हुए हैं वे इस संसार में उपकारके उपयोपी सुखके विपुल और अतन्मोत्तम
आनन्द विमान ही कर लेंगे पर अन्त में मोक्षपथ बड़ा लम्बे आकाशपरसे ऊपर
ऊपर मोक्षपथ आनन्द बड़े ही और वे अपने सुखके लिए दूसरों की धर्म केवल
कटपट्ट करेंगे जिससे इनके प्रयत्नमें अन्त में अज्ञान बहकर हुआ करेंगे
अतः वे अन्त में आधिष्ठान्ति = नाह उपकारमें बर्हिष्ठ होते हैं एव
पदा पदा है ।

(३१) विचारिताः = केवल आत्मविश्रामोही जो समते हैं अर्थात् बुद्धि विचारों और पूर्ण दुर्बल्य वाले केवल आत्मविश्रामोही समते हैं और बचने

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।

३२ विद्यया अन्यत् एव आहुः,	आत्मज्ञानका (फल) भिन्न (है ऐसा) कहते हैं (और)
३३ अविद्यया अन्यत् आहुः ।	अनात्मज्ञानका (फल) भिन्न (है ऐसा) कहते हैं ।

सिवाय और कुछ नहीं करते, वे सृष्टि विद्याके उपसर्कोसे भी अधिक गाढ़ अघकारमें जाते हैं । क्योंकि जीवनयात्रा चलानेके लिए अत्यन्त आवश्यक और उसीसे प्राप्त होनेवाले व्यवहारके सुख-साधन भी इन्हें नहीं मिलते । इस प्रकार न प्रपञ्च और न परमार्थ, ऐसी इनकी स्थिति हो जाती है । [केवल सृष्टिविद्योपासक प्रपञ्चके साधन बढ़ाकर कुछ तो चैन करते हैं, पर केवल आत्मविद्यामें रमनवाले और उसका सिवाय कुछ न करनेवाले मनुष्य यदि उनके लिए दूसरोंने कुछ भी न किया, तो वे ऐहिक साधनोंके बिना जीवित भी नहीं रह सकते । अतः उनकी अधिक हीन अवस्था होती है, ऐसा जो इस मंत्र द्वारा कहा है, वह नितात सत्य है ।]

(३२) ' अविद्यया अन्यत् ' = आत्मज्ञानसे एक भिन्नही फल मिलता है । इस आत्मविद्यामें आत्मशक्तिका विकास होता है, अमृतत्व प्राप्त होता है, बन्धन दूर होते हैं अखण्ड आनन्द मिलता है, आत्मिक बल बढ़ता है, मनुष्य निर्मय होता है और सच्ची शान्तिका अनुभव मिलता है ।

(३३) ' अविद्यया अन्यत् ' = मनात्माकी अर्थात् जगत्की या सृष्टिकी विद्याके फल भिन्न हैं । सृष्टिविद्यासे ऐहिक ऐश्वर्य, सांसारिक सुव्यवस्था, इस जगत्में सुखलामकी समृद्धि, उपभोगके साधनोंकी विपुलता प्राप्त होती है । जिसको अभ्युदय कहा जाता है वह सृष्टिविद्यासे प्राप्त होता है । इस जगत्में सुखपूर्वक रहनेके लिए जिन जिन साधनोंकी आवश्यकता है वे सब साधन इससे मिलते हैं । इस प्रकार ये दो भिन्न भिन्न फल इन दोनों विद्याओंके हैं । इनमेंसे प्रत्येक विद्याके फलोंमें बहुत भारी प्रलोभन है । इससे साधारण मनुष्य उन प्रलोभनोंमें

इति ब्रह्म श्रीराणां ये नस्तद्विषयक्षिरे ॥ १० ॥

३४ इति श्रीराणां ब्रह्म	एसा हम श्रीराणां ओगाँसे सुनते जाये हैं ।
ये न तत् विषयक्षिरे ।	जिन्होंने हमें उस विषयमें कुछ बेया दिया ।

कहता है । अतः विचार्य ऐहिक मंगलें प्राप्त करनेके ऐहिक ऐश्वर्य कहता है इत्यदि जो साधारण मनुष्य इस लुब्धकताके पीछे चलता है, वह अपने जीवन कहता है और वह प्रलोभनमें पड़ता जाता है और उसे वास्तविक अज्ञानता मार्ग दीकता नहीं । इसी प्रकार जो अज्ञानज्ञानमें लीन हो जाता है उसे उसके विवेक कृति मिलती है और वह और और उसमें रमता जाता है और संसारमें रहनेके लिए अर्थात् जीवन व्यतीत करनेके लिये अज्ञान अ वस्तु अज्ञानके सुखमें अज्ञान भी छोड़ देता है और अत एव जो भी जो उसमें इस छोड़ने का नाम भी अज्ञान कहलाने हो जाती है । यदि तो अज्ञान जो अज्ञानता ही तो उसे उसे कुछ नहीं होता पर न की तो इस अज्ञान का नाम अज्ञान ही कहलाने हो जाता है । दोनों ओर से ऐसे ही प्रलोभन हैं । अतः प्रलोभन । मोह हो जानेसे दोनों ही ओर से ही भय है । अतः दोनों ओरके प्रलोभनोंमें न चलते हुए समतोल ही रहते हुए दोनों ही विचारोंसे काम लेनाला या कभी है, नहीं

(३४) तथा चरित्वा ब्रह्मिण्या मनुष्य है । अतः इतिपर जो अज्ञान होकर विवेकत्व निमृष्ट नहीं होता और इति होकर भी विवेक न होता हुआ जो अज्ञानके लीन रहता उसे चरित्वा कहते हैं । मनुष्यके सम्मुख लता ही मार्ग जाता है । पक्षि अथवा मार्ग इसके जो प्रथम कुछ सहन करता है वह अज्ञान अज्ञान प्राप्त करता है । और दूसरा प्रथमार्थ जो प्रथम कुछ अनुभव करता है पर अतः अज्ञान अज्ञान जीवता है । इस विषयमें कुछ अपानिबद्ध भी कहा है— अथवा अथवा मनुष्यमेतस्ती संपरीत्य विविमक्ति चरित्वा । अथवा हि चोरोऽपि प्रेयसो लुब्धो अथवा अथवा योगक्षेममाप्नुवीते ॥ अथवा १। १। १ अर्थात् अथ और अथ वे ही मार्ग

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

३५ यः विद्या च अविद्या च जा आत्मज्ञान तथा प्राकृतिक-
तत् उभयं सह वेद । विज्ञान इन दोनोंको एकत्र
(उपयुक्त) जानता है, (वह)

३६ अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा प्रकृतिविज्ञानसे मृत्युको दूरकरके

३७ विद्यया अमृतमश्नुते । आत्मज्ञानस अमरत्व प्राप्त
करता है ।

मनुष्यके पास आते हैं, उनमेंसे श्रेय मार्ग का स्वीकार धीर लोक करते हैं और श्रेय मार्गको मन्दबुद्धिवाले पसन्द करते हैं और अन्तमें फसते हैं । जो श्रेय मार्गसे जाता है वह ' धीर ' है, इस धीर श्रुतिके मनुष्यको इन दोनों विद्याओंसे अपना सच्चा कल्याण किस प्रकारसे प्राप्त होता है यह अगले मंत्रमें देखो।

(३५) ' विद्या और अविद्या ' = आत्माका ज्ञान और सृष्टिका विज्ञान ये दो प्रकारकी विद्याएँ मनुष्यकी उच्चातक लिए समान उपयोगी हैं । आत्मविद्यासे आत्मिक बल बढ़ता है, ज्ञान मिलती है तथा मनका समाधान होता है । इसी प्रकार सृष्टिकी विद्यामें एतदिक उत्कर्षके साधन प्राप्त होते हैं । इस रीतिमें इन दोनों विद्याओंसे मनुष्यकी वास्तविक उन्नति होती है । यह बात जिनकी समझमें आ गई है वह मनुष्य,

(३६) ' अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा ' = प्रकृतिकी विद्यासे, पंच महाभूतोंके ज्ञानसे सृष्टिके शब्दोंकी सहायतासे मृत्युको दूर करता है । मृत्यु अर्थात् अपमृत्यु दुःख, व्यवहारमें दैनिक श्रमोंमें होनेवाली रुकावटें । ये रुकावटें ज्यों ज्यों सृष्टि विद्यासे विविध साधन तैयार होंगे, ज्यों ज्यों अन्न तथा पेय वस्तुका निर्माण होता जाएगा, इसी प्रकार ज्यों ज्यों उपभोगके पदार्थ निर्माण होते जाएंगे त्यों त्यों उनकी सहायतासे दूर होती जाएगी, और इन साधनोंसे इस क्षेत्रके दुःख कम करनेके बाद,

(३७) ' विद्यया अमृतमश्नुते ' आत्मविद्यासे अमरता, मोक्ष अथवा

(८) कर्म-शेष ।

अन्य तम' प्रविशन्ति येऽसंभूतिरूपासते ।

३८ ये असंभूति उपासते

जो असंघमावकी (ही कबल) उपासना करने हैं (ये)

अन्य तम' प्रविशन्ति ।

गाह संभारमें जाते हैं ।

कैवल्य प्राप्त होना । यह अत्यन्त साध्य है । इसी अतिव साध्यको मनुष्यने प्राप्त करता है । परन्तु केवल हममेंसे एही नाशक कर्मा और अन्य कुछ भी नहीं करके एसा करना योग्य नहीं है । अतः मनुष्य सुविधिसे ही कुछ अन्धी कर्मों की निवृत्ति सुखमय करे और अवशिष्टसे अपने पारमार्थिक पाम कर्मावली सिद्ध करे । प्रथम मंत्रमें आगस्त्या आगत्य कर्मोंमें वर्तमान कर्म ऐसा सम्प्रयोग है । आगत्य क समुदायसे आगती कहते हैं ।

आगत्य कर्मों एक पक्षों की आगती कर्म समुदाय है । क्वालि और समुदाय ऐसा वह कर्म है एक कर्म और कर्मों की ऐसी कर्मों मिली है । इसीसे क्वालि और समुदाय ऐसा कहते हैं । ऐसी स्थिति होनेसे व्यक्तिसे समाजक मिले और समाजकी व्यक्तिसे मिले हुए कर्म करने आवश्यक हैं । कर्मोंसे मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेसे उस कर्म करने कर्तव्य करन होते हैं इसी प्रकार जिस समाजक वह कर्म है कर्मक मिल भी इसे कुछ कर्म करने करते हैं इस न म क्वालि और समुदाय के मनुष्यक कर्म क्षेत्र हैं । इसी संभवक क्वालि संभूत और असंभूति " प्रकरणमें कहा है । इसका विचार बन दोहरा]

(३८) संभूति और असंभूत = (३८) एक होकर (भूति) होना रहना कर्मोंके मिले प्रकृत कर्मा कर्म प्राप्त करना । (सं-भूति) एक कर्मकर रहना एककर्म करके एकत्र होकर किए प्रकृत करना समुदाय संभूतयाम = सहकारितामें व्यवहार करना मिलकर हमला करना सब न कर संभवकसे कर्म्य सहकारी तथा स्थापन करके कर्मिक किए कर्म्य

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या रताः ॥ १२ ॥

३९ ते ततः भूयः इव तमः । ये उनमें मानो अधिक अंधकार-
में जाते हैं, जो (केवल)
ये उ सम्भूत्या रताः । सघभावमें ही रमते हैं ।

करना । 'स+भू' इस धातुका अर्थ एक होकर रहना, सघ बनाना, ऐक्य करके आगे बढ़ाना, ऐसा है । 'संभूति' = सघ, जमाव, समाज, सगठित समाज । विभक्तोंकी विभिन्नता दूर करके उनका सगठन करना, भिन्न भिन्न प्राकृतिक परमाणुओंको एकत्रित करके उनसे सृष्टिरूप सगठित कार्य करना, भिन्न भिन्न व्यक्तिओंका सगठन करके उनका प्रबल सघ बनाना, जाति, राष्ट्र और राष्ट्रसघ बनाना, 'अ+संभूतिः' = असघटित अवस्था । उपरोक्त प्रकारका सगठन न होनेपर जो स्थिति होती है वह । व्यक्तिकी स्थिति, वैयक्तिक सत्ता, ये इस शब्दके मौलिक अर्थ हैं ।

(३८) 'असंभूतिके उपासक' = जो असघभावनाके-व्यक्ति सत्ताके-उपासक, वैयक्तिक स्वातंत्र्यकाही केवल आदर करनेवाले हैं वे अधिकारमें जाते हैं । जो अपना सगठन थोड़ा भी न करते हुए केवल व्याप्तिकीही उन्नति करते हैं, उनमें सघ शक्तिक न बढ़नेमें सघबलसे होनेवाले कार्य करनेके लिए व मध्या अयोग्य होते हैं और इस कारण वे अवनत होते जाते हैं, क्योंकि मनुष्य सघमेंही उन्नत होनेवाला प्राणी है ।

(३९) 'संभूतिमें रमण करनेवाले' = केवल सघभावकेही पूजक या केवल सघशक्ति बढ़ानेके लिए व्यक्तिका स्वातंत्र्य नष्ट करनेवाले जो हैं वे " केवल सघसत्तावादी " भी अवनत होते हैं; क्योंकि इनके कार्यक्रममें व्यक्तिस्वातंत्र्य को स्थान नहीं रहता और प्रत्येक व्यक्ति सघके नियमोंसे जकड़ा जानेसे धीरे धीरे उन्हें परतंत्र होनेका अभ्यास हो जाता है । इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिमें परतंत्रता स्थिर होती गई तो व्यक्तिस्वातंत्र्यसे होनेवाली सघ उन्नतिया बन्द हो जाती हैं । और अन्ततः गत्वा उस राष्ट्रकाही लय हा जाता है । अत्यधिक सघसत्तावादियोंके बहुमतके कारण राष्ट्रम सघ लोगोंकी ऐसी अवनति होती है ।

अन्यत्वेबाहु सम्मवादन्यदाहुरसम्मवात् ।

५० सम्मवात् अन्यत् एव
आहुः ।

संबन्ध (फल) मिश्रही (हि
देसा) कहते हैं (और)

५१ असम्मवात् अन्यत् आहुः ।

असम्बन्धमात्र (फल) मिश्रही
(हि देसा) कहते हैं ।

(४०) सम्मवाः = (सम्भूति) = एक दोषर गृहा कर्मजायते
समात्र बन्धकर संबन्धविधौ बहाना । सम्मवात् अन्यत् = सर्वत्र
एवैवै एक निष्कलन फल मिश्रता है । सम्य सत्ता-बाह् वा फल मिश्र
है । अथवा संयुक्त करके रहनेवालोंमें संबन्धविधौ अङ्कित फल बहता है ।
संबन्धविधौ यो समात्र दूर्तगठित होता है वह अन्तर्गत निम्नही होता है । जोकेसे
भी जोके संबन्धविधौ निष्कलन कर्म करनेमें सम्य होते हैं । वह इस संबन्ध-
वात्में बहामारी प्रयोग्य है ।

(४१) असम्मवाः = (असम्भूति) = असम्बन्धमात्र अर्थात्
अर्थात् समात्रादः प्रत्येक व्यक्ति मिश्र मिश्र सत्तावादी है प्रत्येक व्यक्तिमें अन्तर्
अथ प्रत्येक व्यक्ति करवी बाह्य और अन्तर परमा बाह्य, और इस प्रकार
प्रत्येक व्यक्ति बहते हुए तो सब समता सर्वही बहते हो जाती । अतः
अधिकसे कम्यके विद्यमाने बाह्यकर संबन्धविधौ बाह्यत्वका नहीं है ईष्ट
भी व्यक्ते हैं वे व्यक्ति सत्तावादी नीचे हैं । इसके मतानुसार कर्मवादे
प्रत्येक व्यक्तिमें बहते हुएमानुसार फलप्रत्येक बहति करनेके लिए पूर्ण
कारणता देते हैं जिससे कर्मवीके वैवाचिक गुण बह जाते हैं । इस कारण इस
घटमें आदत्त व्यक्ति केवल ही बहती है इस व्यक्ति-सृष्ट्यात्ममें वह प्रयोग्य
है । [समात्रसत्तावादे संबन्धविधौ विद्यमान होनेका नाम अन्तर् है तथापि
व्यक्ति भी समात्रादपी संबन्ध एक अन्त होनेसे वह कर्मका फलप्रत्येक होता
है, जिससे वैवाचिक बहति बह हो जाती है वह इसमें रहति है । इसके निम्न

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥ १३ ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

४२ इति धीराणां शुश्रुम

ये नः तत् विचक्षिरे ।

४३ यः संभूतिं च विनाशं च

तत् उभयं सह वेद ।

ऐसा धीरोदात्त वीरोंसे सुनते
आये हैं, जिन्होंने हमें उस विषय-
में उपदेश किया ।

जो सघभाव और असंघभाव
इन दोनोंका एकत्र (उपयोगी)
जानता है, (वह)

व्यक्तिसत्तावादमें वैयक्तिक गुण विकसित होते हैं, पर सघशक्ति न बढ़नेसे हानि होती है । अतः दोनों मतोंका सम दृष्टस विचार करके दोनोंही मतोंमेंसे उत्तम बात ही अपनाकर अपना मार्ग जा आधारता है वह सच्चा 'धीर' है] ।

(४२) ऐसे 'धीर' पुरुषों ने इन दोनों मार्गोंमें कुछ विलक्षण गुण देखते हैं, जिससे ये लोक दोनों ही मार्गोंमेंसे गुण लेते तथा दोष छोड़ते हुए अपने पुरुषार्थसे अपने परम कल्याणकी प्राप्ति कर लेते हैं । ये किस प्रकार अपना कल्याण साधत हैं यह अगले मंत्रमें दर्शाया है उस मंत्रका उत्तम विचार अब एकाग्रतापूर्वक देखिए —

(४३) 'संभूति' = सघशक्ति, सघनिष्ठा, समाजनिष्ठा, राष्ट्रनिष्ठा, समाजसत्तावाद निष्ठा ये इसके भाव हैं । सघशक्तिसे क्या लाभ हैं और उसके विना क्या क्या हानियाँ होती हैं यह भी पिछली टिप्पणीमें दिखाया है । इस मंत्रमें दोनोंमसे हानिको दूर करके दोनोंसे लाभ कैसे लेना यह दिखाया है । 'विनाश' यह शब्द इस मंत्रमें 'असंभूति' के लिए आया है । 'असंभूति' का अर्थ 'सघसत्ता' की विरोधी 'व्यासंसत्ता' है । इस व्यक्तिक सत्ताके लिए इस मंत्रमें 'विनाश' शब्द प्रयुक्त किया गया है । 'विनाश' शब्दके दो अर्थ हैं — [१] 'विगतः नाशः यस्मात्' = जिसका नाश नहीं

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा समुत्थासुतमश्नुते ॥ १४ ॥

४४ विनाशन मृत्युं तीर्त्वा | अथमावसे मृत्युर्वा दूर करके
 ४५ समुत्था अमृत अश्नुत । कर्ता ह

होता है; अर्थात् [] । अर्थात् माया = विघ्नेनाश । ये दोनों वस्तुएँ
 विनाश और इन सम्बन्ध हैं । 'इष्टांशुके मरत रहनपर भी मरत अमर
 रहता है' यह अर्थ इस संज्ञा से कहते हैं । अर्थात् मनुष्य यत्न है पर
 ईश्वर द्वारा समाप्त महा जीवन प्राप्त है, इसलिये --

(४४ ४५) अथमावसे समुत्था अमृत अश्नुत अमरत्व प्राप्त विना
 या उच्छिन्न है और मरत मरत हुए कर इनका मरत मरत विना विना हा मरत
 और मरत संज्ञाएँ मरत हा मरत तो एक एक व्यक्ति चाहेही समझ मरत हो
 जायगी मरत विनाश करने देने अर्थात् एक इष्टांशु पर आकर ठहर
 जाय रहता है । इससे जाने विनाश नहीं हो सकता । इसका इससे जाने
 और विनाश नहीं हो सकता इसलिये व्यक्ति को 'अधिमात्रा' न हो 'अमरमे
 आगे विभाज्य करके अमरत्व एका कहा जाता है । इस व्यक्ति के लिए
 मरत [अमर = अमर = अमर = अमर] अर्थात् अमर होने नहीं होता
 विनाश होने जाने मान मरत होता होता] यह अर्थ मनुष्य होता है । अ
 विभाज्यता विनाश १ शक्ति अर्थात् इससे जाने होने, मरत नहीं व्यक्ति-
 का अमरत्व समाप्त किए वर आकाश से व मरत और अमर अमर जो
 यह मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत
 है । मरत करता मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत
 करता है और समुत्था अमृत अश्नुत = मरत मरत अमर हो सकता
 है । मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत
 करके दोनों मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत मरत

(९) सत्यधर्मका दर्शन ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

४६ हिरण्मयेन पात्रेण | सोनेके पात्रसे
सत्यस्य मुखं अपिहितम् | सत्यका मुख ढका हुआ है ।

मुखी परमेश्वरही है । इसके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और निषाद ये पांच अंग हैं। सगठित सघके विषयमें ऐसी एकात्मता रखते हुए उसकी आत्मशक्ति अमोघ ऐक्यसे सृष्टि करनेपर प्रत्येक राष्ट्रमें सघ, उसमें व्यक्तिके मरते रहनेपर भी, अमर होगा और प्रत्येक व्यक्ति भी सघके लिए आत्मसमर्पणरूप सर्वमेध यज्ञ करके अपना जीवन सार्थक करता हुआ अर्थात् स्वतः सघरूप-विद्वान्मरूप-घनता हुआ अमरत्व प्राप्त कर सकेगा । मनुष्योक्त 'कर्मधेनु' इन तीन मंत्रों-ने दर्शाया है । [वाजसनयी माध्यादिन साहितामें ये तीन मंत्र पड़िले तथा विद्या अविद्याके बादम हैं ।] [सब आत्मोन्नति अपरिप्रहृष्टिसे होती है । परि-प्रहृष्टा अर्थ है अपना सुख बढ़ानेके लिए सुख साधनोंको अपने पास इकट्ठा-करना । यही सुवर्णका प्रलोभन है । इसके नीचे सब धर्मनिमय दब जाते हैं, इसलिये इस प्रकारका स्वार्थी मनुष्य धर्मका ज्ञान नहीं सकता । इस प्रलोभनसे मुक्त होनेका उपाय अगले मंत्रमें कहा है —

(४६) 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुखं अपिहितम्' = सुवर्णके चमकीले पात्रसे सत्यका मुख ढका हुआ है । सोनेके नीचे सत्य छिपा पड़ा है । यह अनुभव हमें व्यवहारमें भी मिलता है । अपराध करनेपर भी अधिकारियोंको घूस देकर उसे छिपाया जा सकता है । घूस न लेते हुए कर्तव्य-भ्रष्ट न होनेवाले बहुत धाढ़े हैं । घूस लुच्चाई आदिसे सत्यका मुख बंद कर दिया जाता है इसका दैनंदिनीय व्यवहारमें अनुभव हमें मिलता है ।

(१०) उपासना ।

पूयन्नेकपे यम सूर्य प्राजान्य व्यूह रश्मीन्समूह ।

तजो यत्त रूपं कल्याणतम तत्ते पश्यामि ।

४८ पूयन्, एक ऋपे,

यम, सूर्य

प्राजापत्य !

४९ रश्मीन् व्यूह,

समूह ।

५० यत् त कल्याणतम

तेजा रूप,

तत् ते पश्यामि ।

ह पोषक ! एक दृष्टा !

निय मरु ! तेजप्रदाता !

प्रजापालक !

(तेरी) किरणोंको एकत्र कर,

और उनको एक आर कर ।

जो तेरा अत्यन्त कल्याणकारी ।

तेजोमय रूप है,

वह तेरा रूप मैं देखता हू ।

[४८] पूयन् = पयका पोषक है । वह 'एक' है और वह 'ऋप' = ज्ञाता, ज्ञानी सर्वज्ञ और अतान्द्रियार्थदर्शी है । वही यम' = सयका निगामक सब को अपने नियमों में रखनेवाला, 'सूर्य' = तेज देनेवाला, प्रकाशित करनेवाला और 'प्राजापत्य' = जो प्रजाओं का पालन करनेवाला है वह प्रजापात प्रजापतिसे उत्पन्न होनेवाले प्राजापत्य अर्थात् अपने सामर्थ्य । इन सब सामर्थ्यों में युक्त वह देव है । इस देवकी भक्तियुक्त अन्तःकरणसे इस भ्रम में पुकारा है । ह पोषक, नियामक तेजस्वा, सामर्थ्यशाली, सर्वज्ञदत्त ! मरी सहायता कर ।

[४९] 'रश्मीन् व्यूह समूह' = किरणोंको इकट्ठा करके एक ओर कर । हे देव ! इन जगत्सभी इस चक्रवाहटके कारण मुझ तेरा रूप निखना नही, तूही मेरे पर दया करके मरी आंखोंकी चका चौंध करनेवाले ये तेरे तेज दूर कर, तूने ऐसा किया कि -

[५०] 'त कल्याणतम तेजो रूप पश्यामि' = तेरा अत्यन्त + कल्याण-मय तेजस्वा स्वरूपको मैं देखता हू । हे देव ! त ही रूप का और

ओं श्रम क्रतो स्मर, कृतः स्मर, क्रतो स्मर, कृतः स्मर ॥ १७ ॥

५४ क्रतो ! ओं स्मर ।

कृत स्मर

क्रतो स्मर

कृतं स्मर

हे कमकर्ता पुरुष ! सर्वरक्षक
आत्माका ध्यान कर ।

किए हुए कर्मोंका स्मरण कर ।

हे कर्म करनेवाले पुरुष !

स्मरण कर

किए हुए कर्मोंका स्मरण कर ।

है । अतः मर जानेवाले शरीरकी अपेक्षा अमर प्राणशक्तिकी आराधना करनी उचित है । मरनेवाले शरीरमें अमर प्राणशक्ति है और उस प्राणशक्तिके अन्दर तू (असौ पुरुष = जीव-आत्मा) है । तेरी उन्नतिके लिए ये बाहिरके सर्व साधन हैं । इन साधनोंका सहायतासे तुझे अपने अमरपनका अनुभव लेना है । “इन अनित्य साधनोंके योगसे तुझे वह नित्य स्थान प्राप्त करना है ।” इसलिये —

[५४] हे “क्रतो ” = कर्म करनेवाले पुरुष ! कर्म करना जिसका स्वभाव है ऐसे हे मनुष्य ! ‘ओं स्मर’ = [अवति इति ओम्] उस सर्वरक्षक परमात्माका ध्यान कर । उसके गुणोंका चिन्तन कर । उसके कल्याणमय गुणोंको निरदध्यामनस अपने आत्मबुद्धिमनमें नित्यप्रति बढा । ‘कृतं स्मर’ = रोज प्रातः-साय तने जो कोई कर्म किए हों उनका स्मरण कर । ध्यानपूर्वक विचार करके देख । क तूने जो कोई कर्म किए हैं वे आत्माकी उन्नति करनेवाले हैं अथवा अवनति । दिनभर किए हुए कर्मोंका निरीक्षण सायकालको तथा रातको किए हुए कर्मोंका निरीक्षण प्रातःकाल कर । उस प्रकार अपने आचरणों की परीक्षा तू स्वयं कर और अपना तू स्वयं निरीक्षक बन, जिससे कि तेरी कहा भूल हो रहा है और वहां तुझे वास्तवमें क्या करना चाहिए, यह अपने आप तेरे ध्यानमें आएगा । “हमें स्वयं अपना उद्धार करना चाहिए । जिसमें अपनी अवनति होगी ऐसे आचरण हमें कभी करने नहीं चाहिए ।”

[वाजसनेयी माध्यादिन संहितामें यह मंत्र १५ वां है । आर इसके द्वितीयाध्यायमें “ किल्वे स्मर ” ऐसा अधिक पाठ है । ‘किल्प्, किल्प्, कल्प्’

(१२) प्रार्थना ।

अग्ने नय सुपथा राम अस्मान्
विश्वानि इव वयुनानि विद्वान् ।

५५ अग्ने ! अस्मान् सुपथा रामे नय ।	हे प्रकाशका! हमें वृत्तम मार्गसे अम्बुद्वयकी ले चले ।
५६ देव ! विश्वानि वयुनानि विद्वान् ।	हे देव ! तू सब हमारे कमोके आगत है ।

यस्य सर्वं वयस्यं होवा सोम्य होवा ऐता दे । अतः विद्वान् स्मर =
जहाँ-ए जगमे सामर्थ्यकी बुद्धि किए वह कारण कर । जगमे जाय समर्थ होवेके
लिए करार करे वयुधर ईश्वर-कारण कर अतः सब वृत्त कमोके कारण कर ।
जगमे वद्वान्के लिए इस जेठ मार्गका व्यवसाय कर ।]

प्रतिष्ठित हम क्या करते हैं इसका निरीक्षण करना वह वास्तववादीका आलोचन
लिखे किए अज्ञान अज्ञानक है । हमने बिना किसी भी प्रकारकी सहायि होना
संभव नहीं । सावधाने करीबका पौनव्य भी इस परीक्षणके सिवा नहीं होया ।
अतः हमारी वास्तववादीका सहायि वास्तववादीका सिवा नहीं होया ।

[५५] हे अग्ने = कहाँ देखनामे ईश्वर । अस्मान् सुपथा रामे
नय = हमें जहाँ मार्गसे अम्बुद्वयकी प्राप्त कर । हमने कुमार्गसे जानेकी
बुद्धि कभी न हो । सब मिले जाहे न मिले पर हमारे वास्तववादी मार्ग सुझाही
हो । हे देव ! तू —

[५६] विश्वानि वयुनानि विद्वान् = हमारे सर्व कर्म आगत है ।
क्योंकि तू सर्वथाकी सर्वज्ञ है और सर्वत्र है । इस कारण हम जो कुछ करते
हैं जाहे वह भित्त भी चुपकेसे लिखर भिन्न भया ही तो भी वह तुझे सब
कमल पता लग जाता है । इसका ही नहीं जगमे जाया हुआ संज्ञन भी तुझे
लिखित ही जाता है । ऐसी वजहमे हम तुझे विना भ्र कुत्र भी नहीं कर सकते ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

५७ अस्मत् जुहुराणं एनः युयोधि ।	हमारे पाससे सब कुटिल पाप दूर कर ।
५८ ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम ।	तेरी विशेष नमनपूर्वक स्तुति हम करते हैं ।

हमारे सब अच्छे बुरे कर्मोंका तुझे पता होनेसे जिस मार्गसे जानेसे हमारा उद्धार होगा, उस ध्येष्ठ और शुद्ध मार्गसे तू हमें ले चल । हमारेम कुटिलता और पापभाव होंगे तो वे,

[५७] ' जुहुराण एन अस्मत् युयोधि ' = कुटिलता और पाप, हमारेसे सर्वदाके लिए दूर कर । इन पापोंके साथ युद्ध करके उन्हें दूर करनेके लिये हमें शक्ति दे ।

[५८] इस तेरी कृपाके लिए हम तुझे 'नमः विधेम' = नमस्कार करते हैं । तुझे देनेके लिए हमारे पास नमस्कारके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है । हे देव ! यह हमारा नमस्कार स्वीकार, और हमारा उद्धार कर ।

“ ओम् । पूर्णमद पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावाशिष्यत ॥

ओम् । शान्ति । शान्तिः । शान्ति ॥

परमेश्वरका नाम-संकीर्तन ।



हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें ईश्वरके नामोंका बड़ीतरान विशेष स्थान मिलेका मिलि है । वेदोंमें 'अनेक नामोंके एकही सद्गुणके वर्णन हैं । [मं १।१४६।४६] । अथर्ववेदोंमें भी ऐसाही है । इतिहास और पुराणोंमें भी वह संकीर्तन मिल मिलि आता है । इस छोटीसी ईश्वरपुस्तकमें भी पुनः पुनः 'परमात्म-गुणवर्णन' आता है । ऐसा कहाँ तथा परमात्माके गुणोंका संकीर्तन क्यों किया है ? इस प्रश्नका निवार करना अबबुद्ध है । इस संकीर्तनका मूल सिद्धान्त क्या है उसे जाननेके लिये इस नाम संकीर्तनका महत्त्व समझमें आना पड़ति है, इसलिये इस विषयमें संकीर्तन दो तत्त्व कहाँ पड़ते हैं ।

पहले पहिले बहुतसा आस्थाविक कदापि न करते हुए वैदिक कर्मका एक मूलतत्त्व कहाँ कहाँ पाविए और वह वह है कि— परमेश्वर सबका पिता है और हम सब उसके पुत्र हैं । वह कल्पना इस नाम संकीर्तनका मूल आधार है । मैं परमेश्वरका पुत्र हूँ और परमेश्वर मेरा पिता है, वह कल्पना मनमें स्थिर हो जानेके पुरी ही समयमें बहुत कल्पना मनमें आती है और वह वह कि पुत्र बचत होते होते कभी न कभी अपने पिताके सहस हो आया । इस निमगल बार परमेश्वरके भी पुत्र बचत होनेके मार्गमें हैं और ये कभी न कभी परमेश्वरके सहस 'स्वर्तन [मुक्त] अन्तर्निव-आत्मन्य स्वस्व हीने । इस निवारबारके जानेका सिद्धान्त हमारे आत्ममें आ पड़ेगा—

[१] परमेश्वर सबका पति पिता है ।

[२] हम सब उसके अस्त पुत्र हैं ।

[३] पिताके पुत्रमर्ब अस्तस्मके अस्त पुत्रोंमें होतेही हैं ।

[४] पुत्रके गुणधर्म पूर्ण विकसित हुए कि वह अपने पिताके समान होता है ।

[५] पुत्रके उन्नत होनेकी भी परम सीमा है, और कभी न कभी वह उन्नतिकी परम सीमा प्रत्येकको प्राप्त होगी ही ।

जिन अर्थोंमें 'पिता-पुत्रके गुणधर्म' पितामें पूर्णत्वको पहुँचे हुए हैं और पुत्रमें अशरूपसे हैं, तो वे समानही हैं, उन अर्थोंमें जा गुणबोधक नाम होंगे वे पिता पुत्रके एकसे ही होने चाहिए, इसमें सन्देह नहीं । जैसे 'द्रष्टा [देखनेवाला], श्रोता [सुननेवाला]' इत्यादि नाम केवल गुण बोधक होनेसे, वे जैसे पिताके लिए प्रयुक्त हो सकते हैं वैसे ही पुत्रके लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं । यह जो व्यावहारिक अनुभव है वह वैसा ही इस परमार्थमें भी सत्य है और इसी लिए वेद, उपनिषद् तथा इतर धर्मग्रन्थोंमें परमेश्वरके जो गुण-संकीर्तन किए हैं, वे यदि परमेश्वरका पूर्ण तथा वर्णन कर रहे हैं, तो वे ही कभी न कभी इस जीवात्माके लिए भी लागू होंगे । जैसे परमेश्वर 'ज्ञाता' है, यह जैसे आज परमेश्वरका सत्य वर्णन है, वैसाही जब यह जीव 'ज्ञाता' होगा, तब उसका भी यही वर्णन होगा । इस समय भा देखिये कि- परमेश्वरकी 'विशाल ब्रह्माण्ड व्याप्ति' की तथा जीवकी शरीरमें 'छोटेसे पिण्डमें व्याप्तिको' मनमें यदि न लाया जाए, तो 'ज्ञातृत्व-शक्ति' दोनोंमें ही होनेसे जैसे 'ज्ञाता' शब्द पूणतया परमेश्वरके लिए लगता है, वैसेही वह अशरूपसे जीवके लिए भी अवश्य ही लागू होता है । इससे पता चलता है कि हमारे धर्मग्रन्थोंमें परमेश्वरके नामसंकीर्तनोंमें किए गए गुण-वर्णन जीवात्माको उन गुणोंके बढानेकी सूचना दे रहे हैं, और इसी लिए वे साधकको अत्यन्त सरल उन्नतिका मार्ग दर्शानेवाले हैं, यह नि सन्देह है ।

'तेरा पिता शूर, वीर और धीर था, उसने इतिहासमें ये ये महत्त्वके कार्य किए' इत्यादि प्रकारके बढावके वर्णन लहकोंके सुननेपर उनके अन्तःकरणोंमें 'हम भी उनके सदृश बनें ।' ऐसा भाव आना स्वाभाविक है ।

अपने कृति करनेकी कठिनाता भावसंकीर्तनसे होती है और वह जिस प्रकारसे होती है उसी प्रकारसे इस कार्यका स्वरूप होती रहना चाहिए ।

वैदिकीं किन देवताओंका वर्णन है और इनमें को परमेश्वरके वर्णन हैं, वे सब कथित कथानुसार मनुष्योंमें कृतिही स्मृति उत्पन्न करने तथा उसे उचितसे स्मरणे कर्मावधि है । जैसे परब्रह्मात्म अष्टावहोऽर बीजस्मरणे जाता हुआ है, वैदेही अग्नि, वायु, सूर्य आदि ऐसीतः केन्द्रों अंकुशसे इस बीजस्मरणे साव साव छोरमें आकर इत्रियों और जलज्योंमें बसी हुई हैं । इसलिए चाहे किसी भी देवताका वर्णन हो ती वह हमारे कठोरमें स्थित अंकुशमूल देवताका भी अनुपस्थिते वर्णन है ही । सब अङ्गमेवम् बड़े ब्रह्मात्मका ब्रह्म हीहीती विस्मयीय भी अंकुशसे है ही । इसी प्रकार वही भी समस्तता चाहिए । इससे वह बात प्तानमे जाती है कि हमारे वैरागि वर्मद्वयमें परमेश्वरका तथा इस देवताओंका वर्णन ही ब्रह्मात्म-स्वार्थ सत्त्विक वर्णन होता हुआ वही निम्न स्वरूप अन्तरात्मिक भी है और वह निम्नमें सब सब अन्तरात्मिक सत्त्विकोंके बराबर पूर्ण करनेके लिए हमें आदेश है ही । इस प्रकार वर्णनसे मनुष्योंको मोक्ष मोक्ष और ब्रह्म संभव अपने जागरणमें बड़े प्तता है । इस मोक्षका वैदिक पता बड़े इस बातके अन्तरात्मिक लिए आगे उचितमें बतलाने बतलाना है । निम्न पाठक कुपमार्थों काव्य वर्णने । मूल वाक्य वर्णनेके लिए अरार अङ्गान्क विधा है । अर्थात् सब सब अङ्गवाक्ये संज्ञका वह मूल वाक्य है । देवा समस्तता चाहिये —

परमेश्वरके वर्णनसे मनुष्यके ग्रहण करनेयोग्य बोध ।

परमात्माके वर्णन ।

मनुष्यके ग्रहण करनेयोग्य बोध ।

(शान्ति मंत्र)

१ अदः पूर्णम् ।
(वह ब्रह्म पूर्ण है)

मनुष्य पूर्ण बननेके लिए पुरुषार्थ करे । (इस जन्ममें कुछ विशेष नहीं तो किसी एक गुणमें पूर्णत्व संपादन करे ।)

२ ओम् ।
(वह रक्षक है)

आत्मसंरक्षणकी शक्ति शरीरमें लाओ और पीड़ा देनेवाले प्राणिमनुष्योंसे पीड़ितोंका संरक्षण कर ।

(मंत्र १)

३ ईशा इदं सर्वं वास्यम् ।
(ईश्वरसे यह सब वसनेयोग्य है । ईश्वर ईश होकर सर्वत्र वसा हुआ है)

अपनी शक्तिपर स्वामित्व संपादन करके जगत्में व्यवहार कर । पराधीन वृत्तिमें रहते हुए अपने दिन न बिता ।

(मंत्र ४)

४ अन्-एजत् ।
(वह कांपता नहीं, वह चंचल नहीं)

किसीसे डरकर उसके सामने कांपे नहीं अर्थात् कभी किसीसे न डरे, चंचलपन छोड़ दे ।

- ५ एकम् ।
(बह एक, अद्वितीय है ।)
- ६ मनसा जयीय* ।
(बह सबसे बेमबाज है)
- ७ देवा एनत् न आप्नुवन् ।
(देवइसे प्राप्त नहीं कर सकते
यह देवोंके प्रयत्न करनेपर भी
उपस अग्राप्य है)
- ८ पूर्वम् ।
(बह सबसे प्रथम पूर्वसे है)
- ९ अर्पत्
(बह जानी अथवा स्फूर्ति देने
वाला है)
- १० तिष्ठत् ।
(बह स्थिर है)
- ११ तत् छावत अभ्यान्
अध्येति ।
(बह बाइसेबाछे दूसरके भागे
निकल आय पसी अपनी तीपारी
करे ।)
- १२ अगतमे अद्वितीय बने, (किसी
भी एक बिद्यामें तो अवश्य
अद्वितीय बने ।)
- १३ अपना पाग बढावे आसस्य
तुर करे ।
- १४ अपनी साधनायें दूसरसइसा
समझ छे ऐसी घोषी न करे ।
(अथवा स्वयं दूसरोंका संज्ञा
छक बने पर हमसे स्वयं न
छेरा जावे ऐसे सुरक्षित ज्ञान
पर रहे ।)
- १५ सबसे प्रथम स्वयं कार्य भार
म करे । (इस काममें यह प्रथम
है ऐसा कहलवे)
- १६ ज्ञान प्राप्त करे और अनतामें
स्फूर्ति बढावे ।
- १७ अपना पापा मजबूत करे ।
अपने आत्मपर स्थिर रहे ।
(पुनर्ये अपना स्थान न छोड़े)
- १८ सब स्पर्धा करनेवाले पीछे
रह जावें और स्वयं उनसे प्राण
करे ।

१२ तस्मिन् मातरिश्वा अपः । १२ अपने आप स्वयं कर्म करे
दधाति । और दूसरों से कर्म करावे ।

(इसके आधार से जीव कर्म
धारण करते हैं)

(मंत्र ५)

१३ तत् एजति तत् न एजति । १३ स्वयं अपने स्थान पर स्थिर
(वह दूसरों को चलाता है, रहे और दूसरों को अपनी ओर
पर स्वयं हिलता नहीं) आकर्षित करके उन्हें सत्कर्मों में
प्रवृत्त करावे ।

१४ तत् दूरे तत् उ अन्तिके । १४ दुर्जनो से दूर रहे और सदा
(वह अज्ञानी के लिए दूर तथा सज्जनों के पास रहे ।
ज्ञानी के लिए समीप है)

१५ तत् सर्वस्य अन्तः १५ अपनी अन्दर की तथा बाह्य
बाह्यतः च । रकी अवस्थाओं का निरीक्षण
(वह सबके अन्दर और बाहर है) करे ।

(मंत्र ६)

१६ सर्वाणि भूतानि आत्मनि, १६ सब भूतों को अपना आधार
आत्मा च सर्व भूतेषु । देवे और स्वयं सब भूतों में प्रिय
(सब भूत आत्मामें और आत्मा होकर रहे ।
सब भूतों में है)

(मंत्र ७)

१७ आत्मा एव सर्वाणि १७ सब भूतों को अपने आत्मा के
भूतानि । समान देखे ।

(आत्मा ही सर्वभूत है)

(मन्त्र ८)

- | | |
|--|---|
| १८ सः परि अगात् ।
(वह सर्वत्र गया हुआ है) | १८ स्वयं अपने सब कार्यक्षेत्रों का निरीक्षण करे । |
| १९ अकाय अस्माविरम् ।
(वह बहरहित आशुतहित है) | १९ शरीरकी स्थूल बलिको ब्रह्मानेवाकी आत्मिक शक्ति गढ़ावे । |
| २० अम्रणम् ।
(वह मण्यरहित है) | २० मन्त्र घाव आदि में डोरे देमा आत्मिक प्राप्त करे । |
| २१ शुद्धं, शुक्रम् ।
(वह पवित्र और शीर्षवान् है) | २१ पवित्र और शीर्षवान् बने । |
| २२ अपापविद्धम् ।
(वह पापसे विद्ध हुआ हुआ नहीं है) | २२ पापसे विद्ध मत हो । (पाप मत कर) |
| २३ कविः ।
(वह अतीन्द्रियार्थशी है) | २३ मनुष्य कलम स्थूलदर्शी न होता हुआ सूक्ष्मशक्तियोंका भी ज्ञान प्राप्त करे । |
| २४ मनीषी ।
(वह मन्त्रका स्वामी है विचारशील है) | २४ हमें मन्त्रका अध्ययन करना चाहिये तथा विचारपूर्वक कर्तव्य करने चाहिये । |
| २५ परिमू ।
(वह सर्वसे श्रेष्ठ अथवा शिखरी है) | २५ अपनेको शत्रुके आधीन न करते हुए जिससे विजय प्राप्त हो सके ऐसी अपनी शक्ति बढानो चाहिये । |
| २६ स्वर्पम् ।
(वह अपनी शक्तिसे स्थिर है) | २६ अपनी शक्तिसे रहे परावहम्भी न बने । |

२७ याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात् । (करनेयोग्य कार्य वह करता रहता है)	२७ कर्तव्य जैसे करने चाहिए । ऐसे बिना भूल चूकके करता रहे ।
---	--

(मन्त्र १६)

२८ पूषा । (वह पोषक है)	२८ गरीब-असमर्थोंका पालन- पोषण करना चाहिए ।
२९ एक ऋषिः (वह एक ज्ञानी है)	२९ विशेष ज्ञान संपादन करे ।
३० यमः । (वह नियामक है)	३० हम अपनी शक्तिपर प्रभुत्व प्राप्त करें, नियामक बनें ।
३१ सूर्यः । (वह प्रकाशक है)	३१ दूसरोंको प्रकाशका सन्मार्ग दिखावें ।
३२ प्राजापत्यः । (वह पालक शक्तिसे युक्त है)	३२ आश्रितोंका उत्तम रीतिसे पालन करे ।
३३ कल्याणतमं रूपम् । (उसका रूप अत्यन्त कल्याणमय है)	३३ नित्य प्रसन्नचित्तसे व्यवहार करे ।

(मन्त्र १८)

३४ सुपथा राये नय (ति) । (वह उत्तम मार्गसे ऐश्वर्यको प्राप्त ले जाता है)	३४ स्वतः उत्तम मार्गसे ऐश्वर्य प्राप्त करे और दूसरोंको उत्तम मार्गसे उन्नतिको पहुँचाए ।
---	---

३५ विंशानि वयुनानि विद्वान् । ३५ सब कर्तव्याकर्तव्य कर्मोंका
(बहु सर्व कर्म ज्ञाता ह) योग्य ज्ञान प्राप्त करे ।

३६ जुहुराणां एनः पुण्यतः । ३६ कुटिब्रता आर पापसे (सत्य
(बहु कुटिब्रता और पापसे का पक्ष छोटे हुए) मुक्त करके
मुक्त करता है) उन्नत पद प्राप्त करे ।

सूचना ।

आगे जो ईशान्वितवृद्धे भर्त्सित वाच दिना यथा है वह सब एक संज्ञा में
उल्लेखी विख्यात है ऐसा किसीकोभी नहीं समझना चाहिए । मनुष्य सर्व
कर्मों का कर्ता है वह सब कर्मों का मूल कारण है परमेश्वर के गुणों का ज्ञान भी
भी है होने के लिये । परमेश्वर इस विश्वका सत्ता है जैसे प्रलय का कर्म मनुष्य
का कर्म है वह है जैसे जो कर्म है उसे छोड़ने से ज्ञान में करते हुए अपने पिता के
समस्त कर्मों का प्रत्यक्ष करवा चाहिए ।

येही कम मनुष्य को कर्मों में मग्न करने दे और इसे कर्म मार्ग से अपनी
व्यक्ति कावनी है । परमेश्वर के कर्मों का ज्ञान विज्ञान विज्ञान अधिक मन्त्र होना
उत्तम अधिक कर्मों का उत्तम साधक होना । और इस मार्ग से जाने जाते साधक
का ज्ञान भी है । वह सब जाणा और ज्ञानी साधक का स्वभाव है । वह सब
अर्थात् वह स्वभाविकतया मनुष्यता से जैसे कर्म करने का गवा कि वह
साधक के लक्षण समस्त पुरुषों का देना साधक के कोई दोष नहीं है । परमेश्वर के
बाप तराते हैं वह जैसे वह इस विज्ञान से समझा जा सकता है । वह
मनुष्य के इस कर्म का वह ऐसा उपयोग साधक के लिए है । इस प्रकार वेदों का
ज्ञानपूर्वक विचार करके ही वह ज्ञान करे । वेद एक ही रूप का एक
मन्त्र का भाषा मन्त्र विज्ञान परमेश्वर का एक नाम ही मनुष्य के परम कर्त्तव्य के लिए
प्राप्त है, देना जो समझा जाता है । वह विज्ञान ज्ञान है, वह पाठों के
मार्गों का एक ही रूप ईशान्वितवृद्धे को ही ही विज्ञान गति से मन्त्र करते हैं—

ईशोपनिषद्में वर्णित मनुष्यकी उन्नतिकी मार्ग ।

(१) मनुष्यका साध्य ।

मनुष्यका साध्य 'तीन शान्ति' स्थापना करना और उन तीन शान्तियोंका अनुभव लेना है । (१) वैयक्तिक शान्ति — शरीर, इन्द्रिया मन, बुद्धि और आत्मामें किसी भी प्रकारकी अशान्ति न रहे और यहां पूर्ण शान्ति स्थिर रहे, उसेही "आध्यात्मिक शान्ति" कहते हैं । योगादि साधन इसी अनुभवके लिए हैं । (२) सामाजिक शान्ति — समाजमें विभिन्न मनोवृत्तिवाले लोगोंमें शान्ति स्थापना करना और यह दूसरा साध्य मनुष्यके सम्मुख है । सर्व प्राणियोंके विषयमें प्रेम और दया भावके विचार और आचारको बढानेमें भी यह शान्ति स्थापित हो सकती है । इसेही आधिर्मातिक शान्ति कहते हैं । (३) जागतिक शान्ति — सब चराचर जगत्में शान्ति और समताका स्थापन करना यह आन्तम साध्य है । इसे 'आधिदैविक शान्ति' कहते हैं । प्रत्येक मनुष्यको ये त्रिविध शान्तिके साध्य साधने हैं । इन कर्तव्योंका स्मरण प्रत्येकको करानेके लिए "शान्ति शान्ति शान्ति " इस प्रकार तीनवार उच्चारण किया जाता है । (देखो शान्ति मंत्र)

(२) साधन ।

उपरोक्त तीन साध्योंको साधनेके लिए 'ज्ञान और कर्म' ये दो साधन हैं । इन साधनोंको प्रयोगमें लानेके लिए प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको स्थापित किया गया है । ज्ञानेन्द्रियोंमें ज्ञान प्राप्त किया जाता है और कर्मेन्द्रियोंमें कर्म किए जाते हैं ।

ज्ञानेन्द्रियोंके लिए 'ज्ञान-क्षेत्र' और कर्मेन्द्रियोंके लिए 'कर्म-क्षेत्र' है । जगत्में जाननेयोग्य वस्तुएं यथा ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानक्षेत्रकी व्याप्तिके अन्तर्गत है । पुरुष और प्रकृत, ईश्वर और सृष्टि, आत्मा और अनात्मा, ये दोही प्रकारके पदार्थ ससारमें हैं । अतः इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर

केवल वह ज्ञान-क्षेत्र ही प्राप्त है । पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से तथा सब बुद्धि, चित्त, चर्या इत्यादि सब अन्तःकरण अनुष्ठान से वह ज्ञान प्राप्त करता है । ईशा वाक्य ईश्वर (मं० १) ईश व्याप्त करता है इस उद्दिष्टों ऐश्वर्य को प्रथम तन्मये कहा है वसते हमारा कालक्षेत्र स्वयं हो रहा है । ईश्वर कहते आत्मा या परमात्मा और ईश्वर चर्या से सृष्टि बनाने, लक्षणा लक्षण का नीच होता है । मनुष्य को भी ज्ञान प्राप्त करना है वह इसी सम्बन्ध में है । अन्तःकरण और निःशेष प्राप्त करने ही इच्छा हो तो इन दोनों प्रकार के ज्ञानों को प्राप्त करना आवश्यक है । सृष्टि निश्चय से अन्तःकरण और आत्मज्ञान से निःशेष प्राप्त हो सकता है । अगर इन दोनों ही प्राप्ति से मनुष्य द्वारा हुआ ऐसा सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की आवश्यकता नहीं है बल्कि मनुष्य निश्चित ऐश्वर्य उद्यति प्रकट होने से उसे प्राप्त करने का अर्थ करता है । ईश्वरनिष्ठ रूप से 'ज्ञानक्षेत्र' सम्बन्धी लक्षण (१११) वर्तमान दोनों विधानों प्राप्त करने ऐश्वर्य और पारम्परिक उद्यति विद्या निरोध के लिए प्रचार वाक्यी चाहिए, वह वचनमत्ता विद्या है ।

(३) कर्म-मार्ग ।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह ज्ञान-कर्म में प्रकट होना चाहिए । इसके बिना ज्ञान का वचित उपनयन होना संभव नहीं । ज्ञान अर्थात् पेट भरना ऐसा ज्ञान होवेपर जाने के कर्म करने ही पड़ते हैं । ठीक ऐश्वर्य भी समझना चाहिए । परमेश्वर पूरे और लक्ष्य होने से इस अर्थ में उसके पेट कर्म कर्म का काम रहे है । उसी प्रकार मनुष्य के, मित्रता मित्रता ज्ञान प्राप्त होता जाएगा, कतना कतना ज्ञान कर्मक्षेत्र बढ़ता जाएगा वह सुलभ ही है । दोनों के सम्बन्ध से कर्म उत्पन्न होते हैं । इस अर्थ में अथर्व वेद (मं० १) अथर्व के आचार से बनता है, अर्थात् संवत् आचार से व्याप्त है, लक्षणा लक्षण के आधार से व्यति है । अतः इस सम्बन्ध के कारण व्यति से ज्ञान के हित के लिए कर्म करने चाहिए । व्यति में भी ज्ञान और अर्थ के सम्बन्ध होने से शरीर को आत्मा के लिए और आत्मा को शरीर के लिए कर्म करने आवश्यक है । परमात्मा कर्म अन्त में होने से

यह सर्व जगत्को यथायोग्य गति देनेके पवित्र कर्म गर्वदा रहा है। अतः मनुष्यको भी अपने कर्तव्य कर्म करने अत्यावश्यक है। इस प्रकार दोनोंका जडा सवन्ध होता है वशा एका दूसरेसे जो सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्धसे कुछ विशेष कर्तव्य उत्पन्न होते हैं। इन्हें करनेपर उनका उन्नति और न करनेपर अवनति होती है। सारांश रूपसे मनुष्यके धर्मक्षेत्रका यह स्वप्न है।

(४) आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र ।

मनुष्यका प्रथम कर्तव्य अपने शरीरमें सग विकास करना है। शरीरमें स्थूल और सूक्ष्म, अनेक शक्तियाँ हैं। स्थूल शक्ति अधिक बढानेसे सूक्ष्म शक्तियोंकी प्रगति रुक जाती है और सूक्ष्म शक्तियोंके बढानेका प्रयत्न किया तो स्थूल शक्तियाँ शीघ्र होती हैं। इसलिए इन दोनों शक्तियोंका समविकास करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। मनुष्यके अंदरकी स्थूल और सूक्ष्म शक्तियोंका नामही “ आध्यात्मिक शक्ति ” है और इन शक्तियोंका विकास करनाही ‘ आध्यात्मिक शक्ति-विकास ’ है। ‘ वक् प्राण चक्षु श्रोत्र इत्याध्यात्मम् । (छा० उ० ३।१।२) ’ याणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र इत्यादि शक्तियाँ आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं। इनका विकास आध्यात्मिक शक्तिका विकास है। स्थूल शक्तियाँ बढकर सूक्ष्म शक्तियोंकी सहायता करें और सूक्ष्म शक्तियाँ बढकर स्थूल शक्तियोंकी सहायक बनें, इसका नाम है समविकास। ‘ आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र ’ का तात्पर्य वैयक्तिक शक्तियोंका कार्यक्षेत्र है।

(५) आधिभौतिक कार्यक्षेत्र ।

व्यक्तिकी यह शक्ति जैसे जैसे बढती जाएगी, त्यों त्यों उसके बाह्य कार्यक्षेत्र विस्तृत होते जाएंगे। उसके क्रमशः कुटुम्ब, परिवार, सघ, जाति, राष्ट्र, मानवजनता, प्राणी, समष्टि इत्यादि कार्यक्षेत्र एकमे एक उसकी अन्तःशक्तिके विकासानुसार विस्तृत होते जाएंगे। मनुष्य व्यक्ति सम्पूर्ण समाष्टिके आधारसे स्थित है। व्यक्तिकी शक्तिका पूरा विकास होनेसे पूर्व वह व्यक्ति समाष्टिके कार्य करनेके लिए

योग्य नहीं हो सकती । अतः व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार अपनी व्यक्तिगत
यत्न करने के हितार्थ करना चाहिये ।

(६) आर्थिक कार्यक्षेत्र ।

इसके अन्तर्गत कार्य क्षेत्रों में निम्नलिखित दो मुख्य क्षेत्रों के अन्तर्गत योग्य है यह
है । इस क्षेत्र में जो व्यक्ति है वह व्यक्ति को व्यक्ति और संस्था के हितार्थ
करना चाहिये, यह बात निम्नलिखित प्रमाणों से ही साबित है । उन्हें अनु-
सृत करने के अन्तर्गत अतः व्यक्ति के हित के अन्तर्गत, यह आर्थिक-
कार्यक्षेत्र है ।

(७) यज्ञ और अयज्ञ ।

मनुष्य को इन विषयों का क्षेत्रों में अनेक कार्य करने हैं । और उनके द्वारा
वैयक्तिक तथा सामुदायिक सुख और कान्ति प्राप्त करनी है । यह मनुष्य के कार्य-
क्षेत्रों में व्यक्ति है । वैयक्तिक और सामुदायिक कार्य करने करते हुए व्यक्ति के हित के
लिए समाज के हित का अन्तर्गत व्यक्ति के हित के लिए समाज के हित का साथ होना
नहीं चाहिए । व्यक्ति को समाज के लिए अन्तर्गत करने का यह भी व्यक्ति का
अन्तर्गत करने के लिए व्यक्ति के हित का साथ करना यह अन्तर्गत है । यज्ञ के मनु-
ष्य को व्यक्ति और अन्तर्गत करने होती है । अन्तर्गत की यज्ञों का अन्तर्गत
(८) = समाज के अन्तर्गत व्यक्ति है ऐसा यह है अन्तर्गत क्षेत्र का
है । जिस आचारों में व्यक्ति स्थित है, वह आचारों के अन्तर्गत करने के लिए यह
करना चाहिये, नहीं कि वह आचारों का साथ हुआ तो फिर वह व्यक्ति
होगा ? अतः अन्तर्गत आचारों के अन्तर्गत करने का अन्तर्गत आचारों का
अन्तर्गत को साथ होना है यह इस प्रकार है ।

(८) कर्म अकर्म और विकर्म ।

व्यक्ति और संस्था के कर्मों का अन्तर्गत करने अन्तर्गत
इसका अन्तर्गत करने के लिए अन्तर्गत करने है ।

अपने कर्तव्य करने चाहिए । केवल अस्तित्वके लिए ही जो कर्तव्य करने हैं उनका नाम ' अकर्म ' है । क्योंकि उनका परिणाम व्यक्तित्व तक सीमित है । [' अकर्म ' शब्दका निष्काम कर्म ऐसा दूसरा अर्थ भी है ।] जो कर्तव्य व्यक्ति और समाजके हित करने वाले हैं और जो यज्ञ बुद्धिसे लिए जाते हैं, उनका नाम ' कर्म ' है । यज्ञवाचक सद्यः शब्द इसी कर्मके पर्याय शब्द हैं और व्यक्ति तथा समाजका घात करनेवाले जो कर्म हैं, उन्हें ' विकर्म ' अर्थात् विरुद्ध कर्म या जो नहीं करने चाहिए ऐसे कर्म, कहते हैं । अकर्म तथा कर्म, ये दोनों आविरोधपूर्वक करने चाहिए । केवल विकर्म नहीं करने चाहिए । कर्म क्षेत्रमें यह कर्मकी व्याप्ति इतनी विशाल है । तथापि ज्ञान द्वारा अपने कर्तव्य कर्म योग्य रीतिसे करना मनुष्यकी उन्नतिके लिए अत्यन्त आवश्यक है । इसी लिए ' कुर्वन्नेवह कर्माणि ' (म० २) = ' कर्म करने चाहिए, ' ऐसा उपदेश किया गया है । इस मन्त्रमें कर्म कराना चाहिए ऐसा जो कहा है, वे कर्म कौनसे यह रूपर दिखलाया गया है । व्यक्ति और सधकी उन्नति करने वाले जो यज्ञरूप कर्म हैं, वे ही करने चाहिए और इन कर्मोंको करते हुए ' जिजीविषेच्छत समा ' । (म० २) = ' सौ वर्ष जीनेकी इच्छा कर ' । यह वेदका उपदेश है । न कम लिप्यते नरे ' । (म० २) = ' कर्मोंका लेप मनुष्यको नहीं लगता ' ऐसा जो कहा है, वे ये ही यज्ञरूप कर्म हैं । ये मनुष्यको पवित्र करते हैं, उच्च पदको प्राप्त कराते हैं और पूज्य बनाते हैं ।

इस प्रकार ' ज्ञान और कर्म ' इन दोनों साधनोंसे साधकका कैसे लाभ होता है और उनके द्वारा आत्मोद्धार कैसे करना चाहिए यह यहां दिखाया है । ये दो, एक हीकी दाईं और बाईं बाजू हैं, अथवा एक ही उन्नतिके रखके ये दोनों पहिये हैं । इनके द्वारा उन्नतिके मार्गपर मनुष्यके चलनेसे उसका विकास होकर, उसे अन्तमें जो पद प्राप्त करना है वहां वह पहुंच जाता है ।

(९) अमरत्व प्राप्ति का मार्ग ।

साधक ' कर्मक्षेत्र ' का वर्णन करनेवाले जो (१२-१४) मन्त्र हैं उनमें " वैयक्तिक द्वारा अपना विनाश दूर करके, सधनिष्ठा द्वारा समुदायके लिए कर्म करते

हृष्ट अमृतप्रपञ्चो व्रजं करो (सं १४) ऐसा कहा है । इच्छा को वास्तव में
कमल करना चाहिए । संतनिष्ठता का क्या कार्य है और कतल को अपराध देने का
होता है वह कहा बिचार करके जो प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष है । संतनिष्ठ पुरुष यदि वास्तव में
अमर होता है तो क्या और कतल नहीं बिचोरी का संतनिष्ठ नहीं है ? ऐसी
अवस्था में कहा 'संतनिष्ठ' कथल को क्या दिखाया गया है इच्छा मिले बिचार
करना चाहिए । इन (१२-१४) संतनिष्ठ शब्दों में " अमरमात्र और अमृतमात्र "
ऐसा कथल प्रयोग किया गया है । कहा 'मात्र' कथल का अविशाल अति ऐश्वर्य
कथल का चाहिए ।

[illegible][illegible]

‘सज्जनोंका परिपालन, दुर्जनोंका शासन और मानवधर्मकी स्थापना’ वे ईश्वरके कार्य हमें करने चाहिए, यही भाषा है । और इन कामोंका करना वह सदा ‘भक्ति मार्ग’ है । अपना शक्तिके कारण दुर्जन अनेक प्रकारके दुःख अशक्तोंको देते हैं । उन दुःखोंसे अशक्तोंका संरक्षण करके उन्हें मुसीबत से बचाना, यह ‘जनतामें जनार्दनकी उपासना’ करना है । वियासे, दाक्षिणे आधिकारसे वाचनसे युक्त पुरुषोंकी सेवा करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनका सेवा करनेवाले उन्हें चाहिए इतना मिल सकते हैं । परन्तु जो विद्वान् नहीं है, बलाढ्य नहीं है, अधिकारी नहीं है, या धनवान् नहीं है, उन्हें कोई सहायक नहीं मिलता । अतः ऐसे दीन जनताकी सेवा करना, उसकी स्थिति सुधारना, उसकी उन्नतिके लिए अपने आपको समर्पित कर देना, यह ‘ईश्वरकी सेवा’ है । दीनोंकी दया यह सत्ताका मूल धन है, (तुकाराम) । इसी मूल धनसे यह भक्तिका व्यापार करना है । जो सघभावना, सघनिष्ठा या सघोपासना अथवा सभूतिका उपासना इस ईशोपनिषद्में कहाँ है वह यही है । ईश्वर ‘दीनोद्धारक’ है । इसी दीन जनोद्धारणके कार्यका करना जन सघकी उपासना है । ‘गुरुका सेवा करनी चाहिए’ अर्थात् गुरुको किसी बातकी न्यूनता नहीं रहनी चाहिए । इसी प्रकार दीनोंकी सेवा करनी चाहिए अर्थात् उनका दीनपन इटकाकर, उन्हें अदीन बनाकर उनके उद्धारार्थ जो कुछ करना आवश्यक हो वह करना चाहिए ।

यही दीनोद्धारका काम परमेश्वरकी भक्ति है । दुःखितोंके दुःख दूरकर अन्तःकरण स्थिर होना चाहिए । इस विषयमें अथर्व वेदका मन्त्र देखिए —

ये च ध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।

अग्निष्टानग्रे प्रमुमेक्षु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥

(अथर्व० २।३।३)

‘जो तेजस्वी लोग वह मनुष्यको अपने मन और चक्षुसे अनुकम्पापूर्ण दृष्टिसे देखते हैं, उन्हें ही प्रजाजनके साथ रमण करनेवाला विश्वकर्ता तेजस्वी देव प्रथमतः विशेष रीतिसे मुक्त करता है ।

इस मन्त्रमें जो मन्त्री कहा है कि होन, हुत्वी यह और पाठन कोनोंपर जो होन बना करते हैं कनकी शक्ति यह करनेके लिए अभिप्राय कीज्य करते हैं, कनकी उन्हे प्रथम (अनुमोक्षण) यह सुक्त करता है, कनकी विरल मिमोता है (प्रथम संरक्षण) कनकी रहता हुआ कनके आनन्दसे आनन्दित होने वाला है । इसीलिए यह कनकी हुत्वीये वैश्वर विरल होता है और कनकी यह वैश्वरके उभ हुत्वीये कनके लिए भेजा करता है । संभवति क्या है, यह वैश्वी प्राप्त करनी चाहिए, और उसे वरिष्ठ (अमृतत्व) अमरत्व के प्राप्त होता है यह इस विचक्षण आनन्द आनन्दना ।

वेद प्रतिपादित यजिन्मार्ग यह है । जिस मनुष्यकी जिसकी योग्यता होनी बलसे अधिकारक्षेत्रमें यह कार्य कर सकेगा । एकाग्र वैश्व विरल उन्हे वैश्व औरवोपचार करनेमें ईश्वर सेवा की देता समस्त लक्ष्य है । वृत्ता कोई वृत्तिमें जोना एक देकर वरिष्ठी ईश्वर सेवा कर लक्ष्य है । कार्य कीर करतन वैश्वकी वरिष्ठ करनेवाले कनुष्य यह करने समताको कर्तन करने परमे श्वरकी सेवा की देता समस्त लक्ष्य है ।

‘एकमना समग्रमर्थ सिद्धि विवर्ति मातनः । (म नी १८४६)

कार्यमें ईश्वरकी कपातना करने सिद्धि प्राप्त करनेका यह मार्ग है । वे कर्तव्य का निमित्त हैं और कर्तव्यी पुरुषार्थ लक्षित कनुष्य कनके कर्तव्य की कनेक है, परन्तु एक लक्ष्य लक्ष्य ‘अन्यमें कनकी सेवा करी एक है । यह ‘अनित मार्ग’ है और पूर्वोक्त ‘अन्यमार्ग और कर्तव्यमार्ग’ के दोनों मार्ग इनके अन्तर्गत होते हैं । इस मन्त्रमें कनेकना मन्त्रीकी श्रम और कीर्ति सुक्त होता है यह एक एक कनके कनके श्रम प्रतिपादित है ।

आनन्द प्रथम यजिन्मार्गमें इस कनकोकलनासे ईश्वर भावि होती है देता कीर्ति जो मन्त्री वाला और केक “ वाय-आनन्द ” ही लक्ष्य है देता वाला जाता है । यह वरिष्ठ अन्तर्गत मातनके सिद्ध लक्ष्य है तथापि ईश्वरकी वरिष्ठ कपातना यह करी है । अतः कनके कार्य आनन्दी होते हैं । (एत ए अन्तः वाक्यः ५ । म ५) ईश्वर कनके है और वादित भी है, वाय-आनन्द

यदि उसकी अन्तःकरणमें पूजा हुई, तो उसके ' नाम ' से बताये कर्तव्य बहि-
स्थ जनतत्त्व जनार्दनके लिए उसे करनेहा चाहिए । तभी कर्तव्याकी आन्त-
रिक और बाह्य पूर्णता होना संभव है । एक अन्तर्यामीके कर्तव्य एक तो आधा
कार्य हुआ । दूसरा बहिस्थ ईश्वरके लिये कर्तव्य करने तक कार्य पूर्णही नहीं
होगा ।

अब यहाँ एकही प्रश्नका विचार करना है और वह यह कि ' जन सघ भक्ति '
अथवा ' सभूतिकी भक्ति ' या पृथिवीपर सपूर्ण जनताकी सेवा एक मनुष्यसे कैसे
हो सकती है ? वस्तुतः ' सभूति ' में सर्व प्राणियोंकी समष्टिकी कल्पना है ।
किसी भी एक मनुष्यके लिए सब मनुष्योंतक अपनी सेवा पहुँचाना संभव नहीं ।
इसलिए अपना दया भाव और प्रेमभाव जितना संभव हो, उतना विस्तृत कर-
नेसे, उससे जितनी जन सघ सेवा होगी, उतनी वह जनार्दनको अर्पण होगी और
उतनी उसकी उन्नतिमें सहायक होगी । सब प्राणियों तक उसकी सेवा पहुँचने-
की कोई आवश्यकता नहीं है । केवल उसकी सघभक्तिसे अधर्म बढना नहीं
चाहिए । इतनी सावधानी उसे रखनी चाहिए ।

राक्षस भी सघोपासक थे, परन्तु वे अपने सघवलसे दूसरोंका नाश करके
अपने भोगको बढानेका प्रयत्न करनेके कारण उनके प्रयत्न जनताके दुःख बढा-
नेके लिये कारण होते थे । इसलिए ऐसे प्रयत्नोंसे अघोगति होती है । ' सब
दुष्ट दूर हों, अथवा दुष्टोंकी शक्ति बदल जाए, सज्जनोंका संरक्षण हो और
धर्मका उत्कर्ष हो ' । इस दिशामें जो सघकी भक्ति होता है वही उद्धारक है ।
इसमें दूसरोंके रक्तसे सने हुए भोग हमें मिले ऐसा उद्देश नहीं है, अपितु सर्वत्र
शांति फले, मानवधर्मका उत्कर्ष हो और सब लोक सुखी हों, इस दृष्टिसे प्रयत्न
करना चाहिए । इस कर्तव्यकी दिशा इस उपनिषद्ने सभूति प्रकरणद्वारा दर्शाई
है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, सतोष, तप, स्वाध्याय,
और ईश्वरभक्ति, यह जो शुद्ध सनातन धर्म है, उसका प्रारम्भ अहिंसासे अर्थात्
भूतदयासे होकर अतः ' सर्वस्व समर्पण ' में होता है । इससे राक्षसी स्वार्थको
इस धर्ममें जरा भी स्थान नहीं है ।

सस्यनिष्ठा ।

अपठमें आश्रितों स्थापना करना वह मनुष्यका उत्पन्न है । और इस उत्पन्न के आश्रितों के लिए ज्ञान कर्म और शक्ति वे तीन प्राण्य हैं । इस तीनों आश्रितों का सम्बन्ध न हो इसलिए तब ही कबीली मनुष्यको इस अपने पक्ष रखनी चाहिए ऐसा पक्षमें मंत्रने सुनिश्चित किया है । सुवर्णका मोह को हमें इस वि-
शेष । जो न को हमारे चाहिए । ऐसा करने के कारण संवत्सरी के एक राखनी स्थापना करके अपने खुद हो जाती है ।

ऐसी इस निष्ठा के सम्बन्धों के अतिरिक्त हुए ज्ञान कर्म और शक्ति के अतिरिक्त स्थापित करना मनुष्यका परम कर्तव्य है ।

सिंहावलोकन ।

हमने जो कुछ किया उसका क्या परिणाम हुआ वह हमारे उत्पन्न के लिए ज्ञानका हुआ था नहीं । नीचे के अतिरिक्त आए, इसका सिंहावलोकन करते हुए उसी के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए । ऐसा पुनः १० वें अंश में बताया है ।

कृत कर = क्या किया है वह देखो और फिर अपने या कुछ करना है वह करो । वह कबील को इस प्रकार से अपने को है ।

इस प्रकार ईश्वरनिष्ठ के सुख के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं । इसका इस रीति के अतिरिक्त विचार करने का एक अपनी शक्ति करते हैं । ऐसी अतिरिक्त मनुष्य निश्चय को प्राप्त है, या वह सुख के अतिरिक्त को प्राप्त होकर उत्तम का अतिरिक्त स्थापना करी किया है ।

वेदका आदेश ।

हमने जो इस अतिरिक्त है कि वेद के अतिरिक्तों के अतिरिक्त (विशेष) नहीं है । मनुष्य । वह कर और वह न कर ऐसी एक भाषा नहीं है, ऐसी को अतिरिक्त है, अतिरिक्त अतिरिक्त है कि इस अतिरिक्तों के अतिरिक्त अतिरिक्त अतिरिक्त नहीं है । परन्तु वेदों में बहुत अतिरिक्त है-

(१) मा गृधः = सोम मत कर ।

(२) स्वस्तेन गृहीणा = दाते भोग कर ।

(३) घृता स्मर = किए हुए गन्धोपा भाग्य कर ।

इत्यादि आशा दस ईशोपनिषद्म (अर्थात् यजु अ० ४० में) हैं । इन्द्रदेवने पर वेदमें आशायें नहीं दे ऐमा भिमोको भी समझना नहीं चाहिए । परन्तु जै लोग, आशायें नहीं दे ऐमा मानते हैं, उनका अर्थ यह यह है कि-उन्हें चाहिए उतनी आशायें वेदमें नहीं हैं । ' आशा होनेवाली काम करना, नहीं तो नहीं ' यह शक्ति दाम मनुष्योकी है ।

स्वतंत्र मनुष्य आन्तरिक शक्तिमें काम करता है । लोगोंको गुलाम बनानेकी वेदकी इच्छा नहीं है, अतः यह अपनीकी बहुतमी आशा नहीं करता, परन्तु वह जैसी शान्द योजना करके वर्णन करता है कि उसमें मनुष्यक अन्तःकरणमें स्वयं स्फूर्ति उत्पन्न हो । और वह अपनी अन्तःशक्तिसे स्वतन्त्रतासे अपने कृत्य करे तथा अपनी उन्नति करे ।

इसमें पाठगोरो पता चलेगा कि वेदमंत्रमें आशार्थक प्रयोग बहुतसे नहीं हैं, यह वैदिक धर्मके महत्त्वका बखानवानी बात है । ' इन्द्र अपने बलसे शत्रुका नाश करता है ' ऐसा कहतेहैं । हम अपना बल बलाकर शत्रुका नाश करना चाहिए ' ऐसी स्फूर्ति मनमें उत्पन्न होती है । इसी प्रकार वेदामात्रम देवताकी स्तुति है वह उपामात्रके अन्नकरणमें वैसी स्फूर्ति उत्पन्न करनेके लिए ही है । अतः वह आशा न भी हुई तो भी आशाकाही काम करती है । इसनाही नहीं परन्तु उसका परिणाम उसमें भी अधिक बढ़ा होता है । इस दृष्टिसे वेदके प्रशंसापरक मन्त्र अत्यन्त महत्त्वके हैं । इस ईशोपनिषद्म बहुतसे मन्त्र ' आत्मा ' देवताकी प्रशंसा परक हैं । केवल तृतीय मन्त्र ' आत्मघातक ' लोगोंकी निन्दा परक है । इस प्रकारसे निन्दा करनेवाले जो मन्त्र हैं, वे अवनतिकारक कर्म न करनेका उपदेश करते हैं । ' अमुक मत करो ' ऐसी निषेधक आशा न करते हुए ' ऐसे आत्मघातक कर्म करनेसे ऐसी अधोगति होती है ' ऐसा वेदमन्त्रोंमें

कहा है 'यह सिद्धांत धर्मकारों ने जर्जोंगतिशास्त्र के नाम पर 'बाह्य' ऐसी
 लक्षणात्मक इच्छा के नाम पर रखा है।' सुमित्रे मंत्रों में मनुष्यों की उत्पत्ति की
 ओर प्रेरणा तथा चिन्ता के मंत्रों से 'ज' धर्मों की ओर से निहित होती है। मनुष्यों
 द्वारा धर्मों में निहित कर लक्ष्यों में प्रवृत्त करवा यह धर्मों की ओर से प्रेरणा
 दी गई धर्मों में प्रवृत्त होता है। धर्मों के मनुष्यों में प्रवृत्त करवा यह धर्मों की
 इस प्रकार से मनुष्यों की उत्पत्ति के नाम पर प्रवृत्त होता है।

जब वेदके सम्मन्धमें दूसरी एक वरी यहाँ प्यासमें रखने मौम्य है। और यह वह कि वेदमें प्रकृत्य रूप मन्त्रीकी संख्या बहुत अधिक है। और निम्ना रूप मन्त्रीकी संख्या बहुत मोटी है। इस छोटीसी कल्पितमें कठारह मन्त्रीमें केवल एकही मंत्र निम्नावरक है। सेव तब मंत्र प्रकृत्यमक है। इसका कारण यह है कि मनुष्यका मन विषय बाधका अधिक मनन करता है तदनुसार वह बस्य है। मनका यह काम है। इसलिये मनके काममें जीवकी बात मानी चाहिए और जीवकी नहीं। इस विषयमें अमविषय विचार करना चाहिए। विषय रूपमें भी यदि पुरी कल्पना मनके सामने रख दी जाय तो जी ठलका पुरा परिचाम बनकर हीता है। पुरी पुरी कल्पनामें निरवक्यमें बार बार मनके सामने आवेये कल्प प्रभाव कीये और मनका बड़ता जाता है और कल्पमें वह स्थिर करने मनपर कम जाता है। ईशान्य निवेककी आकाशे भी बहुत मोटी होती चाहिए और वे ऐक्य जालामें होती चाहिए कि कल्पका क्या संन्य मनपर प्रभाव कम पड़े। पुरी बात मत करो ऐसा कल्पमें प्रथम पुरी बातकी कल्पना मनुष्यकी हीपरि काम फिर कल्पका विषय किता पडा। इसलिये एक निवेक आकार मनके सामने आवेये उसे भी कल्पका कल्पना परिचाम होवेये स्वामनर कल्पका मनपर अविषय परिचाम ही होता। इसलिये मनके एक चर्म। विचार करते हुए वेदमें पुरी मानेकि निवेकके मं पत्र बहुत मोटे हैं और प्रकृत्यके मंत्र प्रकृत्यके चर्मकी लक्ष्मि वेदके होतेये अधिक है। ईशान्यमनमें कल्पना कल्पनेके ५० वें अध्यायी १० पत्र प्रकृत्यक है और केवल एक ही मन विषयमक है।

उपदेश भी केवल 'सत्यधर्मकी दृष्टि' (म० १५) मनुष्यके मनमें उत्पन्न करनेके लिए ही करना चाहिए और यह सत्यकी प्रशंसा करके किया जाना चाहिए न कि असत्यका निषेध करते हुए । वेदके उपदेशम यह विवेक अवश्य है । इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिए ईशोपनिषद्का उपदेश सर्वत्र सरल शब्दोंमें नाचे दिया जाता है । भावार्थ स्पष्टतया ध्यानमें आनेके लिए उसमें कुछ शब्द अधिक प्रयुक्त किये गए हैं और कहीं कहीं क्रियापदोंमें थोड़ासा परिवर्तन भी किया है । कहा क्या परिवर्तन किया गया है यह पीछे दिए गए उपनिषद् वचनोंसे पाठकोंके ध्यानमें आ सकता है । यह परिवर्तन इसलिये किया है कि किस मंत्रसे किस भावनाही जाग्रति मनमें उत्पन्न होती है, यह पाठकोंके ध्यानमें शीघ्र आ सके ।

उपनिषद्का भावार्थ ।

शान्ति मंत्र ।

यह आत्मा पूर्ण है और उससे उत्पन्न हुआ हुआ यह जगत् भी पूर्ण है । पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है । यद्यपि उस पूर्णसे यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है तथापि यह जैसाका वैसाही परिपूर्ण रहा है, उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं हुई है ।

आत्मज्ञान ।

(१) (आत्मा) ईश इस सम्पूर्ण जगत्में व्याप रही है । इस जगत्में सबके आधारसे व्यक्ति रहती है । अन व्यक्तिको अपने भोगोंका त्याग (यज्ञ) सबके लिए करना चाहिए और त्याग करके जो कुछ अवशिष्ट रहे उसका अपने लिए भाग करना योग्य है कोई लोभ न करे । धन किसी एक व्यक्तिका नहीं, वह सब जनसघका है ।

(२) मनुष्य इस जगत्में सर्वदा प्रशस्त कर्मही करता रहे, और सौ वर्षतक जीनेका प्रयत्न करे । यह ही मनुष्यका धर्म है, इसे ध्यानमें रखना चाहिए । इसको छोड़कर दूसरा उच्चातेका मार्ग नहीं है । सत्कर्म करनेसे मनुष्यको दास नहीं लगता ।

(१) केवल कारिणीय कर्मों के लिए ही प्रसिद्ध कुछ लोग हैं, परन्तु अन्य आरम्भिक काम करा भी नहीं होता । जो आरम्भिकों को देखें हैं वे करने के बाद और अधिकारी भी, ऐसी ही क्षेत्रों में मिले जाते हैं ।

(४) वह आरम्भिक कर्मों के लिए, सबसे प्रथम प्रकाश और मन्त्रों को प्रेषित है । वह इन्द्रियों को नहीं देखता । उस वेदों पर पद्यों को अपेक्षा भी करके वेद अधिक है । उसके आधारों में मनुष्य अपने कर्म करने करता रहता है ।

(५) वह स्वयं नहीं दिसता तो भी अपने पास है । वह दूर होता हुआ भी करने पाता है । वह अपने अन्तर और बाहिर भी है ।

(६) जो सर्व प्राणिनों को आत्म्या में और आत्मा को सब प्राणिनों में देखता है वह किसीका भी स्वरूप नहीं करता ।

(७) जिस समस्त आत्म्या की सब मृत सब पदा सब समस्त सर्वत्र एकत्व का अनुभव प्रसिद्ध होता है उसे किसी भी प्रकार से कोई अपना मोह नहीं होता ।

(८) वह सर्व व्यापक है । वह वेद प्रति स्वयं और अपने रहित है । सभी प्रकार वह हृदय विषय ऐश्वर्य अनेकविधों में मन्त्र स्थायी विष्णु और स्वयं है, और वह सब सब करने योग्य रहित करता रहता है ।

(९) जो केवल अन्तर्यामि विष्णु की ओर करे हैं वे अवगत होते हैं । इसी प्रकार जो केवल आत्मा की विद्या के पीछे कर जाते हैं वे भी अवगत होते हैं ।

(१०) अन्तर्यामि विद्या का और आत्मा की विद्या का एक ही है । वेदा विचारों के अन्तर्गत रहता है ।

(११) अन्तर्यामि विद्या और आत्मा की विद्या वे दोनों ही सब सब अपेक्षा हैं । अन्तर्यामि विद्या (आन्तरिक) कुछ दूर करने का एक आत्मा की विद्या के अन्तर्गत हो सकता है ।

(१२) जिनकी दृष्टि केवल व्यक्तित्वही सीमित है वे अधोगतिको जाते हैं और जिनकी दृष्टि केवल सघनक सीमित है वे भी अधोगतिको पाते हैं ।

(१३) व्यक्ति निष्ठासे एक लाभ होता है और सघनिष्ठासे दूसरा लाभ होता है ऐसा विचारशाल उपदशक कहते आये है ।

(१४) व्यक्तिका हित और सघका हित इन दोनोंको साथ चाहिए व्यक्तिकी उपासनासे वैयक्तिक कष्ट दूर करके सघसेवासे साधक अमर हो सकता है ।

(१५) सत्यका मुख सुवर्णके ढक्कनसे ढका गया है । अत यदि सत्य देखना हो तो वह सुवर्णका ढक्कन दूर करना चाहिए ।

(१६) हे पोषक ! हे सर्वज्ञ और नियामक प्रजापति देव ! तेरी किरणें एक और कर और अपना मंगलमय रूप मुझे दिखा, वह मुझे देखना है । शरीर धारण किया हुआ मैं प्राणशक्तिसे उत्पत्ति चाहनेवाला तेरा उपासक हू ।

(१७) प्राण अपार्षथि व अमृत है और यह स्थूल शरीर नाशवान् है । अत हे जीव ! ओंकार का जप कर और अपन किए हुए कर्मोंपर विचार कर ।

(१८) हे देव ! हमें उत्तम मार्गमें अभ्युदयके पास लेजा । तू हमारे सब कर्मोंको जानताही है । हमारेसे कुटिल पापाको दूर कर । इसके लिए हम सब तुझे नमस्कार करते हैं ।

यह इशोपनिषद्का सरल रूपान्तर है । शब्दशः अनुवाद पूर्व स्थानमें दिया है । यह यहां पुन देकर द्विशक्तिका दोष किया है तथापि कई मंत्रोंका आशय केवल भाषान्तरसे एकदम ध्यानमें नहीं आसकता, अत यह सरल शब्दोंसे रूपान्तर दिया है । इस आत्म सूक्तमें मुख्य- आत्माका गुणवर्णन है तथापि प्रार्थना, उपासना, निन्दा, स्तुति प्रशंसा आज्ञा याचना, आदेश आदि सब प्रकारके मंत्र इसमें हैं इस दृष्टिसे विचार करनेवालेको यह सरल रूपान्तरसहायक होगा । आज्ञा और निन्दा कितनी थोड़ी है और प्रशंसा कितनी अधिक है इनकी तुलना यहां देखनेयोग्य है । बुराईकी निन्दातक अधिक नहीं करनी चाहिए, और की भी ता बहुत थोड़ी । बुरे शब्दोंसे जिह्वाको थोड़ासा भी सराब करन ।

न, यदिए । पुनितारके कयही कयकरके यदिए । कही केरक कयन हे ।
देखिए—

मद्रु कर्णेमि मृगुयाम बेबाः

मद्रु पश्येमासमिर्वज्राः । (म १।८५।८)

“ कयही बाते कयसि पुनै और कयहीही कयसि बेबा । ” किसी की तरहसे विशेष करनेके लिए भी पुनर्वाक्य समझना न पड़े । केवले स्तुति और कर्तव्यपरक मंत्र अधिक तथा किन्ना और कथापरक कम हैं, इसका कही बाराह है । मन्त्र स्वभाववर्ग्य मन्त्रसे उत्पन्न होनेका होनेसे केवले प्रकल्पित सिद्धांतों कोके समझे नहीं है । उनके सिद्धान्त केव को कुछ है वह कयकही है । इसका वर्णन करके मन्त्रका कथित करनेसे क्या लाभ ? इसके अतिरिक्त

एक एक होनेसे कयसे कया या कयता है पर कयसीकी कयक करके कयना कयन्य है । कयहरनार्थ एक और एक किन्ने होते हैं ? इस प्रकार उक्त एकमात्र एक ही है । इसके सिद्धान्त केव एक संस्कार कयन है । किसी इसमें कन कन कयन कयतीका कयना कयिन है पर इस प्रकल्प एक मात्र एक कयन ही अति सुकयतासे प्रकल्प किन्ना या कयता है । कही कयन कन कयनेके कयनकयनेके कयनमें कयकही यदिए ।

कयनेक मन्त्रोंमें की स्तुतिविषयक मंत्र हैं, वे पत्रकयनेके पुनैकी प्रकल्प कर रहे हैं । पत्रक कयी न कयी इस कयनकयनी कयना कन पुनैति कुछ होनेवाली है कयन हमारे कयनर विषयमात्र कयनके मन्त्री स्वकयन कयन यह है कयन कोऊ (म ११) न कय मैं हूं ऐसा कयनसे हुए यह कयन कयनेसे कयनी कयति किन्नी हुई है और किन्नी होनी है, यह कयने ठीक ठीक कयन होय । इस तरह कयनेके कयनी कयनपर किन्नी प्रकल्प हुई है इसका कयन प्रकल्प को हो कयता है ।

तीन मार्गः ।

कयनपर्यं कयनपर्यं और कयनपर्यं वे तीन मार्ग हैं । हमें एकी स्तुति विषयक मन्त्रों कयना कयने के कयन या कयता है यह कन देखिए । कयनेक कयनी

(१) जो परमात्मापरक स्तुतिका वर्णन है, वह हमारी आत्माका, उसके पूर्णत्वको प्राप्त करनेकी अन्तिम अवस्थाका वर्णन है क्योंकि 'सोऽह (म० १६) ' = ' वह मैं ' हानेसे वह वर्णन जैसा उसका है वैसा मेरा भी है, ऐसा समझ कर यह आत्माका ज्ञान हमें कितना प्राप्त हुआ है, यह देखते जाना और आगे अनुभव प्राप्त करनेका प्रयत्न करते जाना यह, ' ज्ञान मार्ग ' है। (२) परमात्मा क्या करता है यह उसके वर्णनसे या स्तुतिसे जान कर तत्सदृश कर्म ' स (इव) अह ' = ' उसके सदृश मैं ' होऊंगा ऐसी भावनासे अपने कर्तव्य क्षेत्रानुसार यथा संभव निदोषपूर्ण कर्म करते रहना यह ' कर्ममार्ग ' है। इस विषयमें, क्या क्या बोध लेना चाहिए यह मन्त्रखण्डोंसे तालिका द्वारा पहिले दिया है। (३) इन दोनों मार्गोंमें कुछ समानताका नाना दिखाया जाता है। जगत्में परमेश्वरके जो महानसे महान कार्य चल रहे हैं उनमेंसे यथा संभव भाग परमेश्वरार्पण बुद्धिसे गटाना, उनसे जनतामें जनार्दनकी यथाशक्ति सेवा करनी और फलेच्छाकी जरा भी इच्छा न रखते हुए ' (तस्यऽह) ' = ' उसका मैं हूँ ' ऐसी भावनासे केवल ईश्वरार्पण बुद्धिसे की गई सेवाको परमेश्वरकी अर्पण करना, यह ' भाक्तिमार्ग ' है। एकही स्तुति विषयक सूक्तसे ये तीनों मार्ग इस रीतिसे विचार और मनन करनेवाले को सुगमतया समझमें आ सकते हैं। आधुनिक समयमेंही ये मार्ग प्रचलित हुए हैं ऐसी बात नहीं है। अपिच वेदमें ये पूर्वसेही इस प्रकारसे हैं। इस ईशोपनिषद्के मन्त्रोंसे ये तीनों मार्ग पाठक समझ सकेंगे। भाक्तिमार्गका उत्तम उदाहरण हनुमान्जीका है। रामनामके जपमें अतर्गकी पवित्रता करनी और श्रीरामके जगदुद्धारक कर्मोंका यथा शक्ति अपने ऊपर भार लेकर ईश्वरकीही वहिरंग उपासना करनी, ये भाक्तिमार्गके द्विविध कार्य श्री हनुमानजीकी जीवनीके देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होते हैं। ऐसे और भी बहुत भक्त हैं। उनके चरित्रोंमें भी यही बात दिखाई देगी।

विरोधका परिहार।

ईशोपनिषद्में ' विद्या प्रकरण ' और ' सभूति प्रकरण ' हैं। उनमें ' विद्या अविद्या ' और ' सभूति असभूति ' इन शब्दोंके अनेक भाष्यकारोंने अत्यन्त

सिद्धि करने लिए है। इसीलिए हमने अपने अन्तर्गत आशयों को क्या होश है यह बात विद्यालय का सम्बन्ध है। इसका लक्ष्योन्मुख इस प्रकार है—

अन्त्य भवते ईशा वाक्यमिह सर्वं एषा वाक्य है । इन्मे 'ईश और सर्व' के दो पदार्थ वाक्यमें हैं और ये एक दूसरेसे मिले हैं । एकत्र वाक्योत्र है ।

ईव	इव
ईव	अप्प
ईव	अनीव
कअमा	अअत्ता
कअम-विष	अअम विष
--- विष	अ --- विष

इस प्रकार वे चार प्रथम क्षेत्रों के अनुशोधने लगे हैं। येही चार विधा जर्मिया सरकारकी सभा का कार्यक्रम और सक्षम विज्ञान इस कार्यमें आए हैं। पहले क्षेत्रों की विचार करने पर जर्मि में संशोधन तथाकरण सुपमण्य होकर है। और कि-ने भी प्रथमकी सेवा नहीं रहती।

[illegible]

आपत्ति	आगत
५५५५५५	५५५५५५
५५५५५५	५५५५५५

मै+म् वायुच कर्ष एक हो र रचना है । एक होकर न रखेके
वायुको क+र्ष+म् वायु रखा गी ह । एक होकर जब बाँके रखेको एक
कल्पना कर लेते हैं एवढी दूनी कल्पना देखा हो कल्पनाई संयुक्ति
और कम्पुति इस से कम्पौके दिखाई कई । इस होमोली महीर रमकर रहने

मनुष्यकी उन्नति किस प्रकार साधी जा सकती है । यह इस प्रकरणमें दर्शाया गया है ।

परस्पर विरोधी शक्तियोंसे एक दूसरेके लिए सहायता कैसे प्राप्त करनी चाहिए, यह बात पाठक यहां अवश्य ध्यानपूर्वक देखें, क्योंकि जगतमें सर्वदा परस्पर विरोधी विचारकोंकी यदि कहीं भेट भी होगई तो एक दूसरेके विचारोंकी एकता न होनेसे प्रायः झगड़े होते हैं और उनके बढ जानेसे दोनोंका नाश हो जाता है । परन्तु यदि दोनों विरुद्ध शक्तियोंको एक केन्द्रमें परस्पर सहायक बनाया जाय, तो दोनोंका अनेक प्रकारसे कल्याण हो सकता है । विरोधी प्रतीत होनेवाली शक्तियोंको सहायक कैसे बनाना चाहिए, यह इस प्रकरणका विचार करनेवाला सुगमतासे समझ सकता है ।

असुर्य लोक ।

‘असुर्य लोक’ गाढा अधिकारसे व्याप्त हैं ऐसा तृतीय मन्त्रमें कहा है । ये असुर्य लोक कौनसे हैं, इस विषयमें बहुतोंने बहुतसे तर्क किए हैं । कितनेोंने ‘सूर्य जहां नहीं है ऐसे देश’ ऐसा अर्थ किया है । परन्तु यहांपर ‘असुर्य’ शब्द है ‘असुर्य’ नहीं । दूसरे कुछ मानते हैं कि ‘असुर’ का अर्थ राक्षस है, और उनके देशका नाम ‘असुर्यलोक’ है । परन्तु ये सब अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होते । वेदमें ‘असु+र’ यह शब्द ‘प्राणशक्ति (असु+र) देनेवाला’ इस अर्थमें परमेश्वरके लिए आया है । वेदमें बहुतसे देवताओंके लिए ‘असुर’ शब्द इसी अर्थमें विशेषण रूपसे आया है । ‘असुरत्व’ शब्द (ऋग्वेदमें २८ बार, वाज० यजुर्वेदमें ३ बार, और अथर्ववेदमें २ बार) उपरोक्त अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । ‘असुर्य’ शब्द वेदमें अन्य दूसरे किसी अर्थमें भी नहीं आया है और केवल ‘परमेश्वरसे मिलनेवाले (असु-र्य) प्राणोंके बल’ इसी एक अर्थमें आया है । प्राणके ऊपरके बौद्धिक, मानसिक आदि बल इससे भिन्न हैं ।

इस अर्थको ठीक ठीक समझनेके लिए यहां थोड़ासा भिन्न रीतिसे विचार करना आवश्यक है । शरीरमें (असु) प्राणोंकी शक्तिकी गति देनेवाला आत्मा है । उसके रहते हुए शरीरमें प्राण शक्ति कार्य करती रहती है और वह गया कि

[illegible]

मनुष्य नाम ते श्रेष्ठं मन्थेन तमसाऽऽवृताः ।

अमुर्षे बन्धे पतिविद् वाद ह्ये वे कोप है जो एक जगत्कारसे आता है ।
इस जगमें अमुर्षेको भी एक जगत्कारसे आता ऐसा निर्दिष्ट किया है ।
यह इती शिद् कि पन्थासे प्रचलित होनेवाले दूसरे अमुर्षे कोप भी है, जगत्
कोप इस जगमें यही । जगत् बर्षन इन एक जगत् पर लपटें हैं—

असुखी नाम ते हाहा मारमयासा वृद्धाश्रिता ।

तस्मिन्नेत्यपि वक्ष्यन्ति ये के आत्माविदो नराः ॥

‘अधुन कबले जनिह ने ज्ञेय है कि जो आत्माके ऐक्ये प्रकाशित होती है ।
 उसी प्रकार वह जो कबली कबल होती है जो कोई आत्मज्ञानी कर ह ।
 (यह श्रेष्ठ हमने अपनी आत्माके समझा है ।)

[illegible]

प्रथमकी अन्तःकरण-प्रवृत्ति स्वार्थी। भोगतृष्णासे अन्ध हुई थी और इसके विरुद्ध दूसरेकी शुद्धाचरण और जगदुद्धारकी प्रेरणासे प्रकाशित हुई थी। अन्त-शक्ति भी ऐजिनकी तरह है। कह केवल गति देता है। ऐजिनकी शक्तिमें फाटनेके यत्न जैसे फिरते हैं वैसेही जोड़नेके यत्न भी फिरते हैं। इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए।

धनका अपहार ।

प्रथम मंत्रमें 'मा गृधः, कस्य स्विद् धन' । (मं० १) ऐसा एक चरण है। उसका, ' (१) लोभ मन कर, (२) धन भला किसका है ? ' ऐसा अर्थ हम पहिल कर आए हैं। कुछ लोग इस मंत्रखण्डके ऐमे दो भाग न मानते हुए 'कस्य स्विद् धन मा गृधः ।' किमीके भा धनका लोभ मत रख ऐसा अर्थ करते हैं। यद्यपि यह अर्थ बुढ़ा नहीं है तथापि इस मंत्रमें जो 'स्विद्' शब्द है वह प्रश्नात्क है। 'कया, भला' ऐसाही उसका अर्थ होता है। 'कस्य स्विद्' इसका 'कस्य चित्' ऐसा अर्थ नहीं होता। 'दूमे' किसीके भी धनपर लोभ मत रख' ऐसा अर्थ कई मानने हैं। दूसरेके धनका अपहार मत कर, दूसरेको लूट करके अपने उपभोग मत बढ़ा। यह एक उत्तमही उपदेश है पर हमसे अर्थापत्तिद्वारा एक ऐसी ध्वनि निकलती है कि 'स्वयं कष्ट उठाकर प्राप्त की हुई जो धन संपत्ति हो और जो पत्रिक सगति अपने भागमें आई हुई हो, वह दूसरकी न होनेसे और केवल अपनी ही होनेसे उस सर्व संपत्तिका हम स्वयं चाहिए जैसा उपभोग करें, उसमें कोई भी आपत्ति नहीं। " इस दृष्टिसे यह अर्थ धर्मका दृष्टिमें थोडासा गंणहा प्रतीत होता है। धर्म ऐसा कहना है कि जो कुछ हमारा धन हो उसका भी लोभ न करते हुए उसका यज्ञ करना चाहिए अर्थात् 'उसका विनियोग सज्जनोंके सत्कर करनेमें, समान लोगोंकी सगति-करणमें और जिनमें न्यूनता है उनकी न्यूनता दृष्टाकर पूर्णता करनेके लिए दान देनेमें व्यय करना चाहिए। ' यज्ञ अर्थात् 'भत्कार—सगति दानात्मक सत्कर्म ।' अपने धनका इन कार्योंमें उपयोग करना चाहिए। अपने धनका ऐसा उपयोग करना ही वास्तविक उपभोग [त्यक्तन मुक्तीया । (मं० १)] है ऐसा माने,

और ऐल करने वमका मङ्ग करके जो कुछ बचाविए छोड़ा बचाव करने लिए
 लोग करे । बमकेव मङ्गल चर्म है । वहां इन्होंने वमका कोन मही करवा
 बाहरिए, इत्यादी कर्म है वह बात नहीं बलिगु करने वमका भी मङ्गल नहीं
 करवा बाहरिए एग वहां इत्यादी है । (कण्ठ मृगवीवा) राजके करने बनेक
 जीवनी आका है । (मा युवा) वमका कोन मङ्गल कर । (वल किन्तु वम !)
 कि एक ब्याधिका मका वम है ? इत्यत्र विचार कर । एग मङ्गल वम
 जीवा रीकता है । विचारको कही वमन एत मल बाएगा कि वम किही एक
 ब्याधिका नहीं है, क्योंकि जो ब्याधिका मल मेरा है देता मङ्गल है वह ब्याधिका
 कोहेई वमनमें वम वम नहीं। छ वमर मल जाता है । इमलिए वम किनी
 भी एक ब्याधिका नहीं वह मल है । वम मल वमका मका मङ्गल मङ्गल
 वमका मतिका म सपहिका है । ब्याधिका नहीं । वरणि वम कुछ वमके मल
 एक ब्याधिका आधीन होता है । तथापि वम वमका वम-मिद वमकी मका है
 और वह ब्याधिका छ वमके वम एक मका विद्युत वम है । वम अपने
 आधीन वमका करने लिए वमकोन मही कर लकल वम विद्युत है इनके लिए
 वमका वमकोन कर लकता है । छिद इही मका वम मङ्गल ब्याधिका वमने
 वमका मङ्गल व मका ही बलिगल है । वरणि वमका विद्युत वमकोन वमके
 वही वम करेका वम बलिगल है । वम वमका अपने मीनके लिए वम
 करेका वम बलिगल नहीं ।

अग्नि-देवता ।

इहोत्तमिवरुके अन्तिम मंत्रमें अग्नि देवताकी प्रार्थना है । वहां अग्नि कम्प
 से रिक्तता वीच मीन बाहरिए इत्यत्र विचार करना बाहरिए । वहुतसे कोन
 अग्नि कम्पसे वहुतसे वमकोनमें आधीन। आल ऐसा वम वमकी है ।
 वमने अग्नि कम्पका एता करने है तथापि वम वम इम नहीं है । वम सम्पूर्ण
 लक इहो देवताका वमल वरता है । वम एही वमके लिए वम लकमें
 विम्वकिविता वम बाए है— (म १) ईत (म १) एक, वम एक,
 वम (म ५) एत (म ५-७) वमका, (म ८) वम वम। स्वर्गम् ।

(मं० ९) सत्य, (मं० १६) पूषा, ऋषि, यमः, सूर्यः, (मं० १८) अग्निः ।

इन शब्दोंपर विचार करनेपर 'स, तत्, ईश, स्वयभूः, कवि, सत्यः, पूषा, यम, अग्नि, आत्मा' इत्यादि सष नाम एकही परमात्माके हैं ऐसा स्पष्ट दीखता है । एक सूक्तमें एक देवताकेही गुण दिखानेके लिए ये सष शब्द आए हैं । 'आत्मा' के अतिरिक्त इस सूक्तका अन्य कोई देखता आजतक किसीने भी नहीं माना है । अतः अग्नि आदि शब्द एक आत्माकेही वाचक इस सूक्तमें आए हैं यह निर्विवाद है । यही आशय निम्न ऋचा भी दर्शा रही है ।—

“इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्य स सुपर्णो गहत्मान् ।

एक सद्धिमा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातारश्चानमाहु ॥

(ऋ १।१६।४।६)

इस मंत्रमें एक आत्माके इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गहत्मान्, यम, मातारश्च ये नाम हैं ऐसा कहा है । इस वेदमंत्रको देखनेसे अग्नि, यम आदि शब्द उस एक अद्वितीय स्वयभू परमात्माकेही वाचक हैं इस विषयमें शका नहीं रहेगी ।

ॐ शान्ति शान्तिः शान्तिः ॥

ईशोपनिषद्के मंत्रोंका तुलनात्मक विचार ।

केहते किनी इच्छाका विचार करना हो तो ध्याय साथ उत्पन्न इच्छा विचारको जग्य स्वात्मके वेदान्तोंका भी सम्यक् करना जस्यतः आवश्यक है इससे वेदकी रचनाका ज्ञान होता है और वैदिक शिक्षा का समझनेमें भी बड़ी सहायता होती है। इसका ईशोपनिषद्के मंत्रोंके साथ सम्बन्ध यह रीतिसे तुलना कर सकते हैं—

अथ ?

अथ मंत्रका सबसे प्रथमका कथन “ ईशा वासामिहं सर्वं ” यह है इच्छा का है “ ईश इह सर्वमि ज्ञात है । ” अथवा ईश्वरज्ञान यह सब वेदा का ज्ञान है । जहां इच्छा का अस्तित्व सबसे प्रथम कहा है वह ईश्वर के कारण का ज्ञान नहीं है किन्तु कुलतः वह सबका ईश्वर हुआ है, इच्छा विचार करनेके समय निम्नलिखित बात हमारे सम्मुख आता है—

यो विश्वस्य जगतो वेद्य ईशो । (अ. ५।१।१२)

तस्य ज्ञेय ईशिय । (अ. ५।१।१७)

त्वमोशीय वस्तु एक इत् । (अ. ५।१।११)

“ जो सर्व जगत्पर एक वेद्य स्वामित्व करता है । तू ही एक इच्छा ईश्वर है, एक सब का हूरी जगत् तू ही एक स्वाधी है । ” इस प्रकार इस ईश्वर के स्वाधी होनेके निमित्त वेदमें जग्य स्वात्ममें कहा है । अब समझना बड़ी एक वेद्य है । यह ईशोपनिषद्का जग्य ही इस मंत्रमें है । अब देखिये कि यह निम्न प्रकार ईश्वर कहा है—

ईशानो अग्रतिष्ठता । (अ. १।५।८)

विश्वस्यज्ञान ज्ञाता । (अ. १।५।९)

अपि ई पूर्वज्ञा अत्येक इज्जान ज्ञाता । (अ. ५।१।११)

दूसरोंपर अधिकार चलानेके विषयकी वैदिक कल्पना अधिक मूल जाती है और वेदका आशय मनमें अधिक स्पष्टताके साथ आसकता है ।

दान ।

प्रथम मंत्रमें दूसरा कथन 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह है । 'दानसे मोक्ष कर ।' अर्थात् दूसरोंका हित करनेके पश्चात् अपने लिये भोग कर, अपने भोगके लिये दूसरोंके गलोंपर घुरा न चला । दूसरोंके लिए अपना यज्ञ कर । इस विषयमें अनेक बार पहिले भी कहा है । अनासक्ति रखकर व्यवहार करनेका भाव इस विधानमें है । दानके विषयमें ऋग्वेदमें एक सूक्त ही है और अन्य सूक्तोंमें अनेक बार दानकी प्रशंसा की है । प्रत्यक्ष परमेश्वर सहस्रों प्रकारके दान करता है ऐसे भी अनेक मंत्र हैं, अर्थात् उसका अनुकरण करनेकी इच्छा हो गई तो भी दान करना चाहिए । ईश्वरस्वर्गके गुणोंमें त्याग और दान एक विशेष गुण है, इस विषयमें वेदके आदर्श स्पष्ट हैं । यहा उदाहरणके लिये दान सूक्तके एक दो मंत्र देते हैं—

उतो रयि पृणतो नोपदस्यत्युताऽपृणन्मर्दिनार न विन्दते ॥१॥

स इन्द्रो जे। यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।

अरमस्स भवति यामहना उतापरीपु कृणुने सखायम् ॥ २ ॥

न स सखा यो न ददाति सख्य सच।भुवे सचमानाय पितृ ।

अप स्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरण चिदिच्छेत् ॥४॥

पृणयिदिन्नाधमानाय तव्यान्द्राधीयांसमनुपश्येत् पन्थाम् ।

ओ हि वतन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त राय ॥ ५ ॥

मोक्षमन्न विन्दते अप्रवेताः सत्य ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।

नार्यमण पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी ॥ ६ ॥

(ऋ० १०।११७)

“दान देनेवालेका धन निश्चयसे कम नहीं होता । और जो (अपृणन्) दान न देनेवाला होता है उसको सुख देनेवाला कोई नहीं मिलता ॥ १॥

(कृष्ण) दुर्बल होनेके कारण अथवा इच्छा करके (चरते) कृष्ण करने-
 प्राप्त करनेमें भी अधिक योगदान देनेवाला है । इसको भी मनुष्य मान देता
 है । (४ इत्युक्तम्) यही उक्त योगदान करता है । इसको जिसे पचास वर्ष
 पहले के हिन्दु मित्रता है और वह (अ-प्राप्त) कठिन प्रयत्नोंमें सहायक मित्र भी
 प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ अथवा इच्छा करनेवाले के मनुष्यको भी अत्यन्त दान
 नहीं देता वह (५ ३ इत्युक्तम्) वह उक्त प्राप्त नहीं है । इससे (अत्यन्त)
 मनुष्यता चाहिये इसका घर (५ ३ इत्युक्तम्) अथवा घर नहीं है । इसमें
 दूसरे बातोंके पास मान्यता है ॥ ४ ॥ (कृष्ण) कृष्ण (वाचस्पत्य
 कृष्णम्) कृष्णताकी इच्छा करनेवालेके हिन्दु अत्यन्त सहायता देने । अनेक
 योगदान (शरीरके पंचा) अतिरिक्त मार्ग अनेक जिसे करता है, वह अनेक
 प्राप्त करके दान देने कर्त्तव्य (रक्षित वाच) रक्षित करनेके अत्यन्त एक
 दूसरेके दान संज्ञा पाती है ॥ ५ ॥ (अत्यन्त) दुष्टदुष्टिपूर्ण दान व देने-
 वाला मनुष्य (अनेक योगदान देने) अथवा अनेक प्राप्त करता है । मैं उक्त
 करता हूँ कि वह अनेक कर्त्तव्य नहीं है । जो अनेक मनवालेका योगदान नहीं
 करता और मित्रकी सहायता नहीं करता वह (केवल-अथ) केवल अनेक
 मान्यता (केवल-अथ) केवल प्राप्त करनेवाला है ॥ ६ ॥

इस दुष्टके अथवा महान् बर्त्तन दिया है । इससे अधिक दुष्टका महान्
 कर्त्तव्य अत्यन्त है । दुष्टके दान व करता है कि दान व देनेवाला और अनेक
 जिसे ही योगदान देनेवाला नहीं होता है । इस दानके अनेकके हिन्दु ही
 ईश्वरविषयके अनेक अत्यन्त मुनीयता अनेक दान करके योगदान
 देता करता है ।

मनुष्यके अथवा दान दान मनुष्यकी कर्त्तव्यताके अत्यन्तके करता है ।
 दान व व अनेक व रक्षित ही मनुष्यका दान व करता है । मनुष्यका दान अनेकके
 जिसे मनुष्यके दानमान अनेक अत्यन्त दानमान चाहिये । अनेक हिन्दु अनेक
 कर्त्तव्य अनेक होता है । इससे अनेक अत्यन्तकी अत्यन्तके अनेक अनेक
 जिसे इस अनेक अनेक अनेक अनेक अनेक अनेक है । (मा दान) अनेक व

कर, (कस्य स्वद्धनं) किसका भला धन है ? ये वाक्य भी मनुष्यका लोभ धनपर न रहे, मनुष्य दान देनेवाला बने, इस भावके ही सूचक है । इस प्रकार प्रथम मंत्र ही अन्य मंत्रोंके साथ तुलना करनेके पश्चात् द्वितीय मंत्रका विचार करते हैं—

मंत्र २

द्वितीय मंत्रका उपदेश यह है कि “ मनुष्य कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे, उन्नतिका यही एक मार्ग है, दूसरा नहीं । मनुष्यको सत्कर्मका लेप नहीं लगता । ” मनुष्यको कर्म करनेके लिये क्यों उपदेश किया है ? इसके कारणका विचार करनेसे पता लगता है कि कर्म करना इसका स्वभाव ही है । मनुष्य प्रयत्न करे या न करे, इच्छासे करे अथवा अनिच्छासे करे, इससे कर्म होनेही है । इसी लिये इसको सत्कर्म करनेका उपदेश किया है । कर्म करना इसका स्वभावही होनेके कारण इसके प्रयत्नसे शुभ कर्मही हों और अशुभ कर्म न हों, इस बातके लिये प्रयत्न होने चाहिये । अन्यथा अशुभ कर्म होंगे और अवनति होगी । मनुष्यका स्वभाव कर्म करनेका न होता, तो उसको यह उपदेश देनेकी आवश्यकताही न होती । जिस प्रकार एक यन्त्र गति उत्पन्न कर रहा है और वह कभी स्थिर रहनेवाला नहीं है । तो उसके स्वामीको उचित है कि वह उसकी गतिको उपयोग शुभ कार्यमेंही करनेका यत्न करे । इसी प्रकार यहा है । मनुष्य, आत्मा, बुद्धि, मन, वाणी, अन्य इन्द्रियाँ और शरीर आदि साधनोंसे प्रातिक्षण कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है और कर्मदाय नहीं रहता । ऐसी अवस्थामें इसकी कर्मशक्तिसे सत्कर्मही हों और कुकर्म न हों, इस विषयमें सावधानीसे प्रयत्न होने चाहिये । इसी कार्यके लिये संपूर्ण यजुर्वेदका उपदेश है ।

इसी इस उपनिषद्में मनुष्यका नाम “ क्रतु ” है । क्रतु का अर्थ कर्म है । मनुष्य स्वयं कर्मरूप है, यह बात इस शब्दने बता दी है । इसकी आयु १०० वर्षकी है, और प्रत्येक वर्ष एक एक क्रतुके लिये है, इस प्रकार मनुष्य अपनी

एवं आपुमें १ कटु कर कष्ट है, इसलिये एही मनुष्यको "शाप+कटु" धरते हैं। श्री परं लक्ष्मी कण्ठेनै म्वाकृत करमही उच कष्टमा यदा यदा है। कष्टुदा कोई भी शाप कुर्घ्यने धरर करर पदी होमा चाहिये वह लक्ष्मा यदा मिल्यति है। ३७ निषधे निम्नलिखित वेदांग वेदवेद्योक्त है—

॥ प्रथमा वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ (अथर्व १०८१)

देवस्य सन्निताः सखे कस्य दुःखस्तु मादुषाः ॥ (अ १०३११)

परिष्कार यह कार्य करनेके लिये ही हुआ है। सर्वदेवता जगत् होते ही सब मनुष्य कार्य करनेका प्रारम्भ करें। इसान्द्र सामान्य आदर्श मनुष्यके कार्यकी श्रेष्ठा करनेके लिये ही दी है। इसी प्रकार अपने सब अपी और अपने-बीचो बलम कार्यकी लिये अपाके प्रतिष्ठा विम्वर्धित संयोग है यह बात देखने-भरने है —

सर्वं वर्ज्यम् । शत्रुयाम वृथा मर्त्यं गच्छेमाप्तमिर्यञ्जना ।

क्षिप्रैरङ्गस्तृणुषांसकान्मुनिष्यजमाह देवदत्त पञ्चायुः ॥

(४ ७ २५२१)

“इस धर्मोपे पलम कवच धूमि जाँचीके कलम पदम देकने, और कवचक
आनु रीनी कवचक त्वर नीनीके दसैंध रित करे । अर्थात् पलम ६ कवचके
पुन धर्म ही करिने और धमी अहुन धर्म नहीं करिने । नह वैदि ६ मतिहा
कर्मक निष्ठा करिनेके समय मयम करिबोम्ब दे इत मतिहाध वाक्य होनेके
अनुपपन्न पुनर नि-सम्बेह होवा इसमे सम्बेह नहीं है कभीके इन्में प्रलेख
कवचके कलम पुन कर्म कर्मकेध रह संकलन कवच किया ह ।

मग

छोटे संज्ञे “अन्तर्यामि” का अर्थ होता है “आत्मन्तर्यामी” और यह है
 वेदा का है। यहां लघुर्ण जोष्य निष्कार कर्मके अन्तर्गत् निष्पन्नित्तव्य-
 धारणा के प्रथम वेदार्थ की है—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽवुधो जनाः ॥

(बृह० उ० ४।४।१)

“जहां आनन्द नहीं है ऐसे लोग अन्धतमसे व्याप्त हैं उन लोगोंमें अविद्वान् और अज्ञानी लोग जाते हैं ।” इस उपनिषद्वचनमें “असुर्या नाम ” के स्थानपर “अनन्दा नाम ” शब्द है और “आत्महनो जना ” के स्थान पर “अविद्वांसोऽवुधो जनाः ” ये शब्द हैं । इन शब्दोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ‘आत्मघातकी लोग वे ही हैं कि जो अविद्वान् और अज्ञानी हैं । और ‘असुर्य’ लो० वे हैं कि जो ‘आनन्दरहित हैं’ और जहां केवल कष्ट और दुःख है । उपनिषद्वचनोंकी तुलना करनेसे इस प्रकार अर्थ खुल जाता है । अब हम वेद मंत्रोंके प्रमाणसे ‘असुर्य’ शब्दका अर्थ निश्चित करते हैं । असुर्य शब्दके विषयमें इससे पूर्व मन्त्र की टिप्पणीमें और उसके ध्वनिगणके प्रसंगमें बहुत कुछ लिखा गया है, अब यहां वेदमंत्रोंमें ‘असुर और असुर्य’ ये शब्द किय अर्थ में आये हैं इसका विचार करना है । इसलिए ऋग्वेदक एक दो मन्त्र देखिये—

हिरण्यस्तो असुरः सुनीथः सुमृळोकः स्ववा यात्वर्वाह् ।

अपसेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाहेव प्रतिदोष गृणानः ॥

(ऋ० १।३।१०)

“सुवर्णके आभूषण हाथमें धारण करनेवाला, उत्तम नेता, उत्तम स्तुति करने-योग्य, आत्मिक बलसे युक्त (असुर) जीवन देनेवाला देव (अवाह यातु) हमारे पास आ जावे (रक्षस अपसेधन) राक्षसोंका नाश करनेवाला और यातुधानोंको दूर करनेवाला प्रतिदिन स्तुतिको ग्रहण करनेवाला यह देव है ।” इस मन्त्रमें राक्षसोंका नाश करनेवाला देव ‘असुर’ शब्दसे यहां वर्णित हुआ है । इससे सिद्ध है कि यह असुर शब्द परमेश्वरका यहां वाचक है । तथा और देखिये—

त्व विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्ताः ॥

(ऋ० २।२।१०)

“हे अमुर वरुण ! जो देव हैं और वो वर्म हैं उन जनस्य द राजा है ।
इस मन्त्रमें देवोंके उनेह देवरा नाम अमुर कहा है । इस मन्त्रमें अमुर अमर वर
परमात्म्य वाचक है क्योंकि वही प्राणवृद्धिदा देवेराजा है वही हमें जीवित
रैता है । इस अमुर देवरा अर्थात् परमात्माच वो अमर्त्य है । यह अमुर्य है ।
कन इस अमुर्यके प्रबोध मन्त्रमें देखिये —

धारयन्त आदिस्वास्ता अयत्स्या देवा विभ्वस्य मुचमस्य गोपा ।
दीर्घाभियो रसुमाणा अमुर्यमृतावागव्यममता कृणानि ॥

(ऋ १।१५५)

“कन मुचमके राजा और अमरमें उनेहमे अमिस देव इस (अमुर्य)
मन्त्रमें वरुण (अमर) करते हुए चारण करते हैं । इस मन्त्रमें परमात्म्यके इस
अमुर्य वरुण वाचक अयत्स्या आदिस्तेव करते हैं, ऐसा कहा है । और
देखिये —

ईशानाहस्य मुचमस्य भूरेम वा उ पोषटुम्राहमुर्यम् ।

(ऋ १।११।१५)

“यह मुचमका स्वामी ईश्वर है इसमें (अमुर्य) वाचि इसमें कोई भी
जीव वही अयत्स्या अर्थात् वह परब्रह्मवासी विभ्वस्य होनेसे वरुणके वरुण अमर
राजा है और वह इस वाचिके अमरी जीवम प्रदान करता है । अमर वरुण वर-
दाता कहा है—

अहं राजा वरुणो मह्यं ताव्यमुर्वाभि प्रथमा धारयन्त ।

(ऋ ५।४५१)

“मैं राजा वरुण हूं मेरे मित्रे ही मे अमुर्य वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण
मे । अर्थात् मे वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण
करते हैं और वह अमर वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण
करते हैं और वह अमर वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण वरुण

समा धारयन्तमयो विभक्ता यद्वेषु धारयन्त अमुर्यम् ॥

(ऋ १।१५।१)

“यद् ईश्वर अण धन अपवा बल सबको देता है और सूर्यादि देवोंके अन्दर अपना बल धारण करता है ।” इस मंत्रमें कहा है कि परमेश्वर अपना बल सपूर्ण देवोंमें स्थापन करता है, अर्थात् इस बलसे सब देव बलवान् होते हुए अपना कार्य करनेमें समर्थ हुए हैं । सूर्यके अन्दर वही बल प्रकाशके रूपसे दिताई देता है । वायुमें गति और अग्निमें दाहकता आदि गुण उसीके हैं, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंमें अन्यान्य शक्तियाँ उसीके कारण दिताई देती हैं । इसी कारण कहा है कि—

मद्वा देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरशम्यम् ।

(ऋ० ८।१०।१।१०)

“सपूर्ण देवोंका यह मुखिया है, इसका कारण यह है कि इसमें (असुर्यः) जीवन देनेकी शक्ति है और इसमें (मद्वा) मदस्य भी विद्यमान है और इसके अन्दर न दबनेवाला व्यापक तेज है ।” इसमें भी सपूर्ण देवोंका मुखिया यह असुर्य शक्तिवाला परमेश्वर है एसा स्पष्ट कहा है । अर्थात् परमेश्वरकी विशाल सत्ता इस असुर्य शक्तिके कारणहा सबके ऊपर हुई है । अन्य देवोंमें असुर्य शक्ति नहीं है और केवल इस परमेश्वरमें ही वह शक्ति है, इस कारण परमेश्वरका प्रभुत्व सबके ऊपर हुआ है । ये असुर्य बल कितने प्रकारके हैं इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्र अवश्य देखनेयोग्य हैं—

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाम्यानि महिषस्य सन्ति ।

तमग तानि विश्वानि वित्तेन योभ कमाणि मघवञ्चकथं ॥

(ऋ० १०।१४।४)

“तेरे न दबनेवाले चार असुर्य बल हैं जिसमें विविध कर्म तू करता है ॥” इस ईश्वरकी यह अभ्य शक्ति है इसालय ही इस जगत्के अन्दर चलनेवाले अनन्त कर्म वह कर सकता है । और इसी कारण वह सबमें श्रेष्ठ है ।

‘असुर्य’ शब्द जिन मन्त्रोंमें प्रयुक्त हुआ है उसे मन्त्र अनेक हैं उनमेंसे कुछ मन्त्र यहां दिये हैं । इनका देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि ‘असुर्य’

सम्बन्ध करने की प्रतीति देखाते ईश्वरका अस्मय बच' ऐसा है। वेदमें इस अनुबन्ध सम्बन्ध दुसरा अर्थ नहीं है। ईश्वरनिबन्धने इस तृतीय अर्थमें जो अनुबन्ध काव' कम्प है उसमें वह अर्थ कोष्ट किया जाय तो जीवनवाच्यते कुछ क्लेश देना अर्थ इस सम्बन्ध करनेवा। जीवनवाच्यते कुछ ही सचही भाव है, जब वाच्य तो है तो निवेदन। यह अनुबन्ध इस जीवनवाच्यते कुछ है। सम्बन्ध निबन्ध इस वहाँ कोष्ट देते हैं। और वेदम अनुबन्ध ही निबन्ध करते हैं। जब अनुबन्ध यदि इस अनुबन्ध वाच्यते कुछ है तो उसमें अर्थ और भूरे सभी जीवन आपने यह स्पष्टही है जिस अर्थ वह अनुबन्ध का तज्जनोंमें है सभी प्रथम दुर्जनोंमें भी है। वह प्रथम पठक आचरने वाच्य ईश्वर परन्तु इत्या अस्मय इसमें नहीं है क्वाकि न्द (अनुबन्ध) जनोंका वाच्य ईश्वर मज्जनोंके तृतीयमें अर्थ का रहा है उसी प्रकार दुर्जनोंके तृतीयमें भी अर्थ कर रहा है। क्वा तज्जनोंके तृतीयमें ही वाच्यवाच्य ईश्वर दुर्जनोंके तृतीयमें नहीं ? ऐसा कोई भी न्द अस्मय। वाच्यमज्जमें अस्मय वाच्यवाच्य है। यह वाच्यवाच्य वाच्यवाच्य ही अर्थ है 'अनु' कम्प वाच्यवाच्य है। अनु- कम्प वाच्यवाच्य ईश्वर-वाच्य अस्मय वा। वाच्य, और अनुबन्ध कम्प इसमें अस्मय वाच्य वाच्य है। इस स्पष्ट निर्दिष्ट इत्या कि वाच्यवाच्य अनुबन्ध वाच्य वाच्यवाच्य है। यह वाच्य तज्जनों और दुर्जनोंमें अस्मयवाच्य अस्मय है। दोनों वाच्यवाच्य यह अर्थ कर रहा है।

जबसे हमारे ज्ञानी गुरुजी 'अधुन' का अर्थ नहीं है और दूसरा कोई अर्थ नहीं है। ऐसी अवस्था में गुरुजीने ईशानसिंह (अ ४) में जाके हुए अधुन का अर्थ मित्र अर्थात् मान्यता नहीं है। वेदों की एक सत्यता जाते अधुन का अर्थ भी मान्यता नहीं होता तो ईशानसिंह का अधुन का अर्थ अथवा मित्र मान्यता संभव होगा परंतु वह अधुन का अर्थ ईशानसिंह में हमारे देखें। अथवा एक ही अर्थ देने में नहीं है। हमारे ईशानसिंह के एक अधुन का अर्थ अथवा मान्यता की एक ही मान्यता नहीं है।

यह अर्थ लेनेपर भी घुरे और भले लोगों की व्यवस्था उत्तम प्रकार हो जाती है, 'अन्धतमसे व्याप्त असुर्य लोक' और 'आत्मप्रकाशसे प्रकाशित असुर्य लोक' ऐसे दो भेद, इसके माननेसे इस शब्दका ठीक अर्थ ध्यानमें आ सकता है। इस विषयमें अधिक विवेचन पूर्व स्थानमें लिखा ही है। इसलिये अब इसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

मंत्र ४

“वह आत्मा एक, अद्वितीय, सबमें पूर्व, स्थिर, अत्यंत वेगवान्, ज्ञानी और मनसे भी वेगवान् है। वह गतिवाले अन्य पदार्थोंके भी आगे पहुँचता है और उसीके आधारसे माताके गर्भमें आनेवाला जीव कर्मोंका धारण करता है।”

इस मंत्रमें आत्माके गुण वर्णन किये हैं वे सब प्रसिद्ध हैं और उपनिषदादि सब ग्रंथोंमें वे आगये हैं, इसलिये उनके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। तथापि इस आत्माके एक होनेके विषयमें यहां कुछ लिखना आवश्यक है—

प्रथम मंत्रमें “ईश” शब्द एकवचनान्त है, इसलिये ईश एकही है यह बात सिद्ध होती है, तथापि अधिक स्पष्ट करनेके लिये यहां इस मंत्रमें “एक” शब्द रखकर उसी बातका अधिक स्पष्टीकरण किया है, इसके साथ नेम्बू-लिखित मंत्र देखिये—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥

न पञ्चमा न षष्ठः सप्तमा नाप्युच्यते ॥

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥

तामिद निगत सह स एव एक एकवृत्तेक एव ॥

(अथर्व० १३।४।१६-१८, २० १)

“यह ईश्वर दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवा, आठवा नववा, दसवा नहीं कहा जा सकता, वह बड़ा भारी बलशाली है, वह एकही है, एकही सबत्र घेरनेवाला, केवल एकही है।”

अवश्य मिलता है । वेदने यह बड़ी भारी महत्त्वकी बात यहाँ कही है । इसको जानकर पाठक उत्तम कर्म करें और स्मरण रखें कि अपना किया हुआ कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता ।

इस मन्त्रमें 'मातरिश्वा' शब्द विशेष महत्त्वका है इसलिये इस शब्दका आशय प्रकट करनेवाले कुछ मन्त्र यहाँ देते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यं स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एक सद्धिप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु ॥

(ऋ० १।१६।४६, अ० १।१५।२८)

“एकही आत्माके इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा ये नाम हैं ।” इनमें “सुपर्ण” शब्द है जो जीवात्मा परमात्माका वाचक प्रसिद्ध है । “द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया” इस मन्त्रमें सुपर्ण शब्द जीवात्माका भी वाचक है । इन्द्र शब्द परमात्माका वाचक है इसमें किसीको सदेह नहीं है । यह इन्द्र शब्द जीवात्माका भी वाचक है और इसीसे ‘इन्द्रिय’ शब्द ‘इन्द्रशक्ति’ वाचक बनता है । यदि इन्द्रियमें इन्द्रकी शक्ति है तो नि सदेह इन्द्रियके पीछे इन्द्र स्वयं है और यह इन्द्र जीवात्माही है । इसी प्रकार ‘मातरिश्वा’ शब्द भी जीवात्माका वाचक है । जिसके वाचक ‘सुपर्ण, गरुत्मान्, इन्द्र, ये शब्द हैं, उसीका वाचक ‘मातरिश्वा’ शब्द है यह ऊपर दिये हुए मन्त्रसे सिद्ध होता है, यह बात इस मन्त्रका विचार करनेवालेको कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । पाठक यहाँ ‘मातरिश्वा’ शब्द जीवात्माका वाचक होनेका अनुमान करें । और देखिए—

प्राणमाहुर्मातरिश्वान् वातो ह प्राण उच्यते ॥

(अथर्व० १।१६।२५)

“प्राणको मातरिश्वा कहते हैं और इस वायुको प्राण भी कहते हैं ।” इस मन्त्रमें प्राण ही नाम मातरिश्वा कहा है । प्राण भी जीवात्मकी सहाचरिणी जीवन-शक्ति है । इन दोनोंक विषयका वर्णन निम्नलिखित मन्त्रमें देखिए—

मातरिभ्या शुद्धा सम्यं हव्यबाहू समीपे । (ऋ १७५१)

यह मातरिभ्या शुद्धि के बंदर रहनेवाला मन्त्र भी है । ” हमारा ऊपर भी शुद्धि के बंधन हुए बंधे बंधर (देवता) भी हैं वही बंधनही है । यह सब भी इस मातरिभ्या मन्त्र के बंधन भी है वही बात फिर कहा है । और देखिए—

वृत्तस्य तन्मु मयसा मिमासा सर्वा दिवा पश्यते मातरिभ्या ॥
(ऋ ११३/१५)

“ उनके तन्मु को पश्ये मातेकमा मातरिभ्या सब दिशाओंमें पत्रि करता है वा बधता है । ” वही तन्मु के तन्मु के बंधन पायाया है वित्तिये सुझावा भी करते हैं । इस सुझावाओं में भीतरवाही करने मयते देखता है और स्वयं पत्रि होकर सब दिशाओंमें भी पत्रि करता है । इनके विषयमें और एक मंत्र देखिए—

तमूपाहुष्यते गर्भे मासुरो नराद्योसो मयति पद्विजायते ।
मातरिभ्या पद्विमिमीत मातरे पातस्य सर्गो मयसरसरीमधि ॥
(ऋ ११५५/११)

“ (तन्-म-पात) शरीरों में व निरुमेवात्मा (मातरि भ्या) मातके गर्भमें रहनेवाला भीतरवाही (गर्भ) उच्यते) गर्भ है ऐसा कहा जाता है । वही (तन्-म) तन्मु नामक भीतरवाही देवता है । वह समस्त (म-पात) पात भीतर ही भीतर रहता है (तन् मिमासते) सब यह बातें होती हैं । ”

इस मंत्रमापमें इस मातरिभ्या मन्त्र तन् म-पात कहा है । शरीरों में निरुमेवात्मा यह इसका अर्थ है । अतएव शरी में वह रहता है तबतक वह शरीर निरुता नहीं, और जब वह इस शरीरों छोड़ देता है तब वह शरीर ऐसा फिर जाता है कि फिर वही तन्मा तन्मा सब बंधन देवताके मातरिभ्या मन्त्र भीतरवाही नामक मन्त्र प्रदत्त होता है । इनके अर्थ बहुत है वरुण ईश्वरविषयमें मातरिभ्या मन्त्र मातके गर्भमें स्थित भीतरवाही नामक

प्रतीत होता है । पाठक इन मंत्रोंका विचार इस मंत्रके साथ करें और आत्माके गुण जानकर उनसे सूचित होनेवाला आत्मोन्नतिका मार्ग आक्रमण करनेका यत्न करें ।

मंत्र ५ से ७

“आत्मा समीप और दूर, अन्दर और बाहर सर्वत्र है । (५) जो सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह किसीका तिरस्कार नहीं करता । (६) जिस समय आत्माही सब भूत प्रतीत होने लगा उस समय सर्वत्र एकत्व देखनेवालेको शोक और मोह नहीं होते । (७)” यह इन तीन मंत्रोंका भाव है । इसमें आत्मा शब्द महत्त्वपूर्ण है । इस आत्माके गुणोंका विचार वैदिक मंत्रोंसे अब करते हैं—

देवो न यः सविता सत्यमन्मा कृत्वा निपाति वृजतानि विश्वा ।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शवो दिधिपाय्योऽभूत् ॥

(ऋ० १।७३।२)

“जो सत्यविचारवाला सविता देव है वह अपनी कर्मशक्तिद्वारा सपूर्ण दुष्कृत्योंसे रक्षा करता है । वह अत्यन्त प्रशसनीय सत्यानिष्ठ देव आत्माके समान ही सेवनीय है ।” इस मंत्रमें कहा है कि जिस प्रकार आत्मा सेवनीय है, उसी प्रकार सविता देव भी है । अर्थात् आत्माकी परिचर्या अवश्यही करनी चाहिये । कई लोग बाह्य पदार्थोंकी सेवा करते हैं, कई अपने शरीरकी, और कई लोग अपने इन्द्रियोंकी सेवामें रमते हैं । कई अपनी बुद्धिकी श्रद्धा करते हैं और कई अपने मनकी तर्कना शक्ति बढाते हैं । इतने सब प्रयत्न करते हुए भी लोग अपने आत्माकी उत्तमी सेवा नहीं करते, कि जितनी आत्मासे भिन्न अन्व पदार्थोंकी श्रिया करते हैं । यह बड़ा भारी आश्चर्य है । इसलिये इस मंत्रमें सूचित किया है कि आत्माही प्रथम उपास्य और सेवनीय अथवा समजनीय है । इसलिये कहा है—

आत्मा यज्ञस्य पूज्यः । (ऋ० १।२।१०)

“आत्माही यज्ञमें सबसे पूर्व उपास्य है ।” इसका अर्थ यह है कि आत्माके

मित्रात्मक करनेका विचार बहुधाकी वस्तु प्रथम करना चाहिए, और वस्तु
विषय अन्य पदार्थोंका सुचारु करनेका विचार उसके पश्चात् करना चाहिये । प्रथम
कीमत्त वस्तु वस्तुओंके सुचारुत्व प्राप्त करने हैं नर आत्मसुधारका कम
विचार करते हैं । इस कारण बहुधाकी वस्तु मिलनी होती चाहिये वस्तुकी नहीं
होती । पाठक सुखका विचार करिये तो वस्तुकी अपने सुचारुके कर्ममें बहुत शोध
प्राप्त हो सकता है । यह आत्म शोध ऐश्वर्य की आत्म है इस विषयमें निम्न-
लिखित मंत्र देखिये—

आत्मा वृक्षानां मुचमस्य मयी पयस्वदां करति देव एषः ।

घोषा इहस्य भूमिधरे न कपं ॥ (मं १ । १६४) ।

यह ऐश्वर्यका आत्मा सुखोंका धर्म है । यह अपनी इच्छाके अनुसार
कमता है । इसका रूप नहीं दिखाई देता है केवल इसका शोध सुचारु देता
है । ” इस मन्त्र वाच्यके कर्मसे आत्मका धर्म कर्म किया है । विश्व मन्त्र ननु
यस कल्प सुचारु देता है वाच्य रूप नहीं दिखाता सभी प्रकार आत्मका रूप नहीं
दिखाता परंतु उसके कर्म दिखाई देते हैं । यह धर्ममें रहकर कर्मों में प्रत्यक्ष ऐश्वर्य-
का रूप देता आत्मदेव का ऐश्वर्य भी आत्मा है । वहीमें सब ईश्वरका देवता—
जोकि ईश्वर है वस्तुकी ईश्वर देवताका यह आत्मा है, और इस सब ईश्वरोंकी कृपासे
वस्तुका रूप दिया अपनी वस्तुके निमित्त ईश्वरोंमें निमित्त कर्म करनेकी शक्ति
दिलीमें रखनेवाला यह आत्मा है । पाठकीमें चाहिये कि वे अपने आत्मकी यह
कृति अपने ऊपर अनुभव करें और मैं आत्मा हूँ ऐसा समझकर, मैं अपनी
कृति मिल ईश्वरों का रहे रहना और ईश्वरोंके कर्म वाच्य के ईश्वर देता निश्चय
करने अपनी कृतिपर इस प्रकारका प्रयत्न करना चाहें । जो आत्मकी कृति
विचार चाहे वस्तु मरकटों है वह कृतिमें अपनी इच्छानुसार कर्मोंमें
कर्मोंका साथ कर्म है । यह इस अनुभवसे प्राप्त हो सकता है । मैं इस
ईश्वर कृति के कर्मों का मैं ईश्वर देता कर्मों करनेकी इच्छा निश्चयकृत
ईश्वर देता है, कर्मों का ईश्वर—

माऽहं प्रायेण माऽऽत्मना मा प्रजया प्रतिपद्य विद्यामिहि ।

(नर्क १ । १५४)

“ मैं आत्मा, प्राण और प्रजा इन शक्तियोंसे पृथक् न होऊँ । ” अर्थात् मेरे पास ये शक्तियाँ उत्तम अवस्थामें रहें और मेरी उन्नतिकी साधनामें इनसे सहायता प्राप्त हो । कभी ऐसा न हो कि अल्प आयुमें प्राण चला जावे, प्रजा नष्ट हो जावे और आत्मा भी हीन बल होकर गिर जावे । कभी इस प्रकारकी संभावना उत्पन्न न हो मनुष्यको प्रयत्न करके आत्मिक, प्राणसमृद्धी और सुख-निर्माण विषयक बल अपने अंदर स्थिर और स्वाधीन करना चाहिये । केवल बल बढनेसे कार्य नहीं होगा परंतु उस बलपर अपना प्रभुत्व होना चाहिये । इस प्रकार अपनी शक्ति बढत बढते सर्वात्मभाव की स्थिति प्राप्त होती है जिसका वर्णन निम्नलिखित मंत्रमें पाठक देखें —

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।

अस्तुना नामाहमयमस्मि स आत्माननि वधे

द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥

(अथर्व० ५।९।७)

“ सूर्य मेरा चक्षु है, वायु मेरा प्राण है, पृथिवी मेरा शरीर है और अन्तरिक्ष मेरा आत्मा है । मैं (अस्तुत) कभी न मरनेवाला हूँ । ऐसा मैं अपने आपको द्यावापृथिवी द्वारा सुरक्षित होनेके लिये समर्पित करता हूँ । ” परमात्मामें अपने आत्माको लीन करनेसे अपने अन्दर सर्वात्मभाव आ जाता है, इस अवस्थामें यह ज्ञानी अपने आत्माको सर्वात्मरूप देखता है । उस समय वह कहता है कि मेरी आत्मा सूर्य है और पृथ्वी शरीर है तथा वायु प्राण है । अपने प्राकृतिक अनुभवकी दशामें भी यह सत्य है । क्योंकि सूर्यके बिना हमारे नेत्र क्या कर सकते हैं ? हमारे नेत्र देखते हैं तो वे सूर्यकी सहायतासे ही देखते हैं । इसी प्रकार हमारा शरीर भी पार्थिव ही है । यह तो स्थूल अर्थमें सत्यही है । परंतु यहा सर्व-त्मभावकी दृष्टिसे कहा है । सर्वात्मभावकी दृष्टिसे ही जब जीवात्मा परमात्मामें लीन होता है तब वह साधक अपने आपको अपने शरीरसे भिन्न और महान् सूत्रात्मासे संयुक्त अनुभव करता है । इस समय इसका रक्षण इसके मातापिता नहीं करते प्रत्युत जगद्गुरु मातापिता द्यावापृथिवी उसके रक्षक बनते हैं । वह भी अपने आपको उनके सम्मुख रख देता है और उनसे सुरक्षित

होता हुआ अपने आपसे कमर अनुभव करता है । इसी समय जानकरी
मध्य सुख प्राप्त है और तबमें दिव्य कठिना बलिमान हो जाता है । दूसरे
पुनः पुनः करके के सिने बचके हु खोले अपने विरपरकेत है और अपना सुख
दुखोंको क्षति बचानेके सिने उनके सिने जर्जित करता है तथा अपने अन्तर
सुखदुःखोंको सम देखकर सुख-दुःख अन्तर हर्ष-शोक नहीं करता । इस प्रकार
इस धर्मसमय को विधि है ।

यह अज्ञान कमर है और क्षीर वाहक है ऐश मयनेति क्षीरको पिता
कमल अज्ञान होता है और पुनः जलन करता है, यह बात सब भिन्न होती
है । इसीविधि शब्द ज्ञाना ऐसी प्रार्थना करता है—

पुनः प्राणः पुनरात्मा न एतु पुनश्चास्तु पुनरुत्सर्गं येतु ।

विम्बावरो नो अहम्भस्तनूपा अमृतास्तिष्ठाति दुरितानि विम्बाव
(अर्थ १५३।१)

पुनर्भस्तिष्ठाति पुनरात्मा ॥

(अर्थ १५३।१)

येतु यत्तु, प्राण और आत्मा सुखे पुनः प्राप्त होँ एवं इसीविधि सुखे पुनः
प्राप्त होँ । यः अहम्भस्तनूपा, विम्बावरो अज्ञान मेरे कमर है ।
इहामि मेरा इतिवर्तिनी को पुनः पुनः प्रति हाटी है । इस बातको बतल रहे
है । इतिवर्तिनी को पुनः पुनः प्रति होनेका अर्थ पुनर्जन्मका होनाही है । निज
अन्तर इस समयमें एवं इतिवर्तिनी बचावोत्तर है कही प्रकार अपने अन्तरमें प्राप्त
होँ और मैं सबको लक्ष्मणको बचतिनी प्राप्त करूँ । यह आचार इस प्रार्थना-
का है ।

इस रीतिसे पुनर्जन्ममें वह बचता रहता है । इस मनुष्यको पुनः दोबारा
जन्म है या नहीं जन्मका अन्तमुत्तुय हुआ इसको अज्ञान ही धोषे रहता
बाधित है । इस अज्ञान निरसन वह मंत्र करता है—

अकामो धीरो जमुतः स्वर्गम् एतेन ततो न कुतश्च्योतः ।

तमेव विद्याय विमाय सृत्पोरमाय धीरमहर्षिं पुनश्चम् ॥

(अर्थ १।५।१५)

“ परमात्मा आसक्त, सदातृप्त, धीर, अमर, स्वयम्भू, सर्वत्र व्याप्त, अजर, युवा और वीर है । उसको जाननेसे मृत्युका भय नहीं होता । ” यह मृत्युके डरको हटानेका उपाय है । सर्वात्मभावसे युक्त बननेका अर्थ इन गुणोंसे युक्त बनना है । स्वयं तृप्त, सतुष्ट, निष्काम, निर्भय और तरुण जैसे उत्साही बनने और अन्यान्य गुण अपने आत्मामें बढानेसे वह निर्भय वृत्ति अपनेमें स्थिर हो जाती है । एक बार वह भाव अपनेमें बढ गया तो फिर मृत्युका भय उसके नहीं रहता ।

इस प्रकार इन मन्त्रोंका मनन पाठक ईशोपनिषद्के ५ से ७ तकके तीनों मन्त्रोंके साथ करें और आत्मोन्नातिके वैदिक मार्गको जानकर स्वयं अपने प्रयत्नसे अपनी उन्नति करें ।

ईशोपनिषद्के शेष मन्त्रोंका भाव स्पष्ट है और उस कारण अन्य मन्त्रोंसे तुलना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

यहां ईशोपनिषद्के मन्त्रोंका तुलनात्मक विचार समाप्त हुआ ।

ईशोपनिषद् का रूपान्तर धर्मशास्त्रागतमे

ईशोप
लोचन

- १ अन्तर्माणास्त्यमिदं विश्वं परित्यज्य जगत्पां जगत् ।
तेन त्यक्त्यनं मुक्षीष्या मा शुचः कस्य स्विङ्गनम् ॥
(श्री वात्स्य ८।१।१)
- २ सर्वभूतेषु यः परम्येङ्गवद्भावात्मानः ।
भूतानि मयवत्स्यात्मानस्य भाववतोत्तमः ॥
(श्री वात्स्य ११।१।१५)
- ३ आत्मानं सर्वभूतेषु मगवास्तमवस्थिष्यत् ।
सुपस्वत्सर्वभूतानि मयवद्व्यापि आत्मानि ॥
(श्री मात्स्य १।१।१५)
- ४ यदा तु सर्वभूतेषु दारुण्यमिदं स्थितम् ।
मतिवसति मां कोको जह्यात्तद्धैव कश्मलम् ॥
(श्री वात्स्य १।५।१५)

महामासमे

- ५ त्वयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु वासि मे ।
शुचार्ता हि मयाजानामेकत्वं त्वयि तिष्ठति ॥
(म नारत वरित्तर्प १५४)

[इस प्रकार इन्द्रिय और गुणोंके प्रयोगोंमें ईशोपनिषद् का रूपान्तर है ।
विद्वान् कर्मयोगी वर्णित है कि ये इसकी अविष्ट और करे और रूपान्तरके
कीन्त निष्पन्न कर कर्मों गुणों ईशोपनिषद् के बाव करे और वर्णित योग
आत करे ।]

कुरान शरीफ का एक मन्त्र

‘अग्ने नय’ यह मन्त्र ईशोपनिषद्में १८ वाँ है। उसके अर्थके समान अर्थवाला एक ‘सुरा’ (सूरतुल-फातहा) कुराण शरीफमें है। तुलना के लिये उसके मूल वाक्य, उपनिषद्के वाक्य और उनका अर्थ नीचे देते हैं—

वेद-मंत्र	कुरानका वाक्य	अर्थ
ॐ	बिस्मिल्लाह इर्रह्मानिर्रहीम्	ईश्वरके नामसे प्रारम्भ जो दयालु और दयामय है।
देव	अल्हम्दु लिब्नाहि रब्बिल् आलमीन्	ईश्वरके लिये स्तुति है। वह जगत् का कर्ता है।
विश्वानि वयुनानि विद्वान्	मालिकि यत्त मिद्दीन्	सब कर्मोंको जाननेवाला अतः न्यायके दिनका स्वामी।
भूयिष्ठा ते नम उर्किल् विधेम।	इय्याका नाबुदो व इय्याका नस्तईन्।	हम उसको नमन करते और उसीकी सहायता चाहते हैं।
अस्मान् सुपथा नय।	इहिदि नस्सिरातल् सुस्तकीन्	हमें सुमार्गसे ले चल।
राये ,, ,, ,,	सिरातल्जीना अनम्ता अलयहिम्	जिनपर तुम्हारी कृपा है उनके मार्गसे हमें ले चल।
एन युयोधि	वगैरिल्मग्जूबि अलयहिम्	उनके मार्गसे नहीं कि जिन पर तुम्हारा क्रोध होता है।
जुहुराण ,,	वलज्ज्वालीन्	और न उनका मार्ग कि जो तेंढे मार्गसे जाते हैं।
ॐ शान्ति शान्ति शान्तिः	आमीन्	त्रिभुवनोंके प्रभुकी कृपा हो।

इस तरह इस वेदमन्त्रका भाव और कुराणके इस वचनका भाव एफही है। ‘अग्ने नय’ यह मन्त्र ऋग्वेद आदि संहिताओंमें है—ऋ० १।१८९।१, वा० य० ३।३६, ७।४३, ४०।१६, काण्व ४०।१८, तै० स० १।१।१।१४।३, ४।४३।१, तै० ब्रा० २।८।२।३; तै० आ० १।८।८, श० ब्रा० १४।८।३।१ अन्यान्य वैदिक वाक्यमें भी है। ऐसा यह मन्त्र कुरान शरीफतक भायार्थ-रूपसे पहुँचा है। यह नि सदेह विचार करनेयोग्य बात है।



ईश-उपनिषद्

[अध्यात्म-सत्त्वज्ञानपर अधिष्ठित राज्यशासन]

प्रास्ताविक

अध्यात्म-सिद्धान्तोंपर अधिष्ठित राज्यशासन ।

वीथीक समर्थके कार्योंके प्राक् समी मन्त्रहार आन्वार्थिक भूमिपर कबले वे मैत्र राज्यप्रधान मी इली एक भूमिपर कबला का । वैद्यकी सीधारे, आद्वय और आत्मिक प्रत्य तथा उपनिषद्में जो अध्यात्म-वर्षन है वह व्यक्तिमें अध्यात्म प्रमाण का राज्यमें अभिभूत और विश्वमें अभिदेवत नामसे प्रसिद्ध है । आद्वय-आत्मिक उपनिषद् आदि प्रमाणोंमें बारंबार “अथाध्यात्मं अध्याधिभूतं अध्याधिदेवतं” ऐसे वीथीके बीजे एकही उद्देश्यमन्त्रमें व्याख्या इन तीनों क्षेत्रोंमें केली होती है वह विषय होता है । इन वचनोंसे वेदमन्त्रों अध्यात्मिक भूमिपर राज्यप्रधान कैला अधिष्ठित है इत्यर्थ बीज ही ब्रह्म है ।

अध्यात्म-क्षेत्रकी सर्वोच्च आत्मा-सुखि-मन्त्र इति-सटीर एक वीथीक है अधिभूतकी सर्वोच्च मन्त्र-समाज-गुरुप्रमाण-अर्थात् प्रथम समष्टिक मन्त्रदेत है । इसीसे अध्यात्म-निर्वाण राष्ट्र-संरक्षण आकाशी राज्यप्रधान विद्ध होता है । इसी राज्य अभिदेवतकी सर्वोच्च स्तर पर समष्टि अर्थात् संपूर्ण निध है । इससे स्पष्ट होता कि अधिभूत विचार ही प्रधान तथा राष्ट्रका विचार है । इसीमें आत्म-व्याख्या और राज्यप्रधान-वर्षनका अन्तर्भाव हुआ है वह आत्मा वरिधे ।

क्यापि इधमें एक उद्दिष्ट है वह भी वहां देखा जायिधे । अध्यात्मविचार व्यक्तिके चरित्रके आन्तरिक विचार है अभिदेवत विचार निरन्तरवर्तित विचार है,

इन दोनों स्थापित की व्यवस्था ईश्वरीय नियमोंके अनुसार चलती है, मानव
 चेतने इसाक्षेप नहीं कर सकता । मानव इन नियमोंका निरीक्षण करे, वहाँके
 शासक नियम देखे और उन नियमोंकी अभिभूत क्षेत्रमें अर्थात् मानव-सामान्य
 और राष्ट्रके क्षेत्रमें लगावे और तदनुसार राज्यशासन चलावे । इस तरह
 जो शासन प्रपञ्च होगा वह “अप्यात्माभिष्ठित राज्यशासन प्रबंध”
 होगा । यह कैसा है वह निम्नलिखित षोडशमें देखिये—

अप्यात्म	अभिभूत	अभिदेयत
आत्मा	शासक	ईश्वर, विश्वशासक
गुदि	शासकसभा	प्रवृत्ति
मन	नियामक	विश्वमन
इन्द्रियो	अधिकारी	अग्नि-सूर्यादि प्राणि
परा	राष्ट्र, समाज	विश्व

अप्यात्म और अभिदेयत क्षेत्रके सब व्यवहार ईश्वरीय नियमोंसे स्वयं
 चलते रहते हैं । ये नियम अटल हैं । उनके सामान्य नियम मनुष्य देखे और
 उन नियमोंकी मनुष्य अपने मानवसमाजके शासनमें लगावे । इससे जो राज्य-
 शासन होगा वह अप्यात्माभिष्ठित राज्यशासन होगा । यह विचारपूर्वक और
 मननपूर्वक करना चाहिये । अग्नी स्मृतिवोंका सग्यी भाग ऐसा ही निर्मात्र
 हुआ है ऐसा दासता है । श्रुतके आधारपर स्मृतियाँ हुई हैं अथवा श्रुति
 और स्मृति एक हैं ऐसा जो कहा जाता है, इसका भाव यह है । श्रुतियोंके
 मन्त्रोंके वचन समाज-शासनमें किस तरह परिवर्तित किये जा सकते हैं,
 यह समझमें आनेसे यह सब सहजहासे ध्यानमें आ सकता है ।

यह ध्यानमें विशद रूपसे आनेके लिये हम यहाँ एक या दो उदाहरण
 देते हैं और बताते हैं, कि वैदिक अप्यात्म सिद्धान्त ही राजकारणके सिद्धान्त
 कैसे बनते हैं—

‘ईश-उपनिषद्’ यह ‘ईश-विद्या’ है । अर्थात् यह ईश बननेके

मिया है। मर का सामर्थ्य बढ़कर उच्च नारायण बनाने की यह सिधा है। नतीज यह सामर्थ्य में संवर्धन करने की सिधा है।

बहुत लोग ऐसा करते हैं कि "अमेरिका में कोई एक कर्मशास्त्र पुत्र भी मैं अमेरिका का अध्यापक बनूँगा ऐसी महत्वाकांक्षा वाला करता है और प्रत्यक्ष करके ऐसा अध्यापक बन भी जाता है। बहुत स्थिर प्रसंगा करते हैं और वह लोग भी है। जल्दी भारतवर्ष में देखिये बहुत कोई बीसों भी बीस स्यात स्यातवाला मनुष्य हो वह लोग होते हुए भी मैं ईश्वर बनूँगा ऐसी महत्वाकांक्षा वाला करता है और सारे ब्रह्म मण्डि देना अनुभव करने तक उद्यत हो उठता है। ऐसे पाप उद्यत हुए महत्वा कोष प्रायः जल्द ही तना बीस पाठों में हुए हैं इसलिये हम यह समझते हैं कि ईश्वर कर्मों की महत्वाकांक्षा इस प्रकार हर कोई वाला कर उठता और वास्तव उद्यत भी हो उठता है। किसी एक देश का अध्यापक होने की लोभ का अध्यापक भी परम अध्यापक ईश्वर है वह कल्प एक राम भेद भेद है भारत में बीसों के अन्तर्गत में वह भेद पड़ता है और अनुमान करके कई लोग इसमें प्रसन्न भी कर सकते हैं। क्या यह महत्वाकांक्षा कम है।

अध्यात्म में आत्माकुमार केना अभिवृत्ति में अध्यात्म अध्यापक शासक होना और अभिवृत्ति में परमात्मा अध्यापक नारायण कल्प में उद्यति की सीधियों हैं किन्ती महत्वाकांक्षा की लोभी है वह क्या पाठ देती और निबन्ध करें कि कौन सी महत्वाकांक्षा सर्वश्रेष्ठ है। वह अध्यात्मशास्त्र इस तरह सामर्थ्य बढ़ानेवाला शास्त्र है। मर का सामर्थ्य कर्मों का कार्य ही यह है कि जो सामर्थ्य करे वही वह वह उद्यत प्रसन्न हुआ और वह अध्यापक बना। इसलिये ऐसे ही सामर्थ्य का शास्त्र यह उद्यत है।

"प्रकृति सब प्रपञ्च स्रष्टात्री है और आत्मा स्रष्टा है। प्रकृति है केवल प्रपञ्च है। वह अध्यात्म विद्युत कर सकते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वतः। (पेट. १।२९)

“प्रकृति” का अर्थ जैसा ‘पञ्चभूतात्मक प्रकृति’ है ‘वैसाही “पञ्चजन रूप प्रजा” भी है। इसी तरह कूटस्थ ईश्वर-प्रजापतिका अर्थ “राजा, शासक” ऐसा भी है। ये अर्थ लेनेसे पूर्वोक्त अध्यात्मका सिद्धान्त राजकारणमें इस तरह परिवर्तित हुआ दीखता है—

अध्यात्म	आधिभूत
द्रष्टा, ईश	निरीक्षक, प्रजापालक
प्रपचकर्त्री प्रकृति	सर्व शासनव्यवहार करनेवाली प्रजा
पञ्चभूत	पञ्चजन

इस तरह देखकर बहुत कुछ विवरण हम कर सकते हैं। यहाँ अधिक स्पष्टीकरण करनेके लिये हम एक दो और भी मन्त्र लेते हैं और देखते हैं कि अध्यात्मके सिद्धान्त राज्यशासनमें किस तरह परिवर्तित होते हैं—

ईशा चास्य इदं सर्वम् । (वा० स० ४०।१, ईश १)

“ईश्वरके द्वारा यह सब विश्व आच्छादित होने योग्य है।” यहाँ कहा है कि ‘ईश अपनी शक्तिद्वारा इस सब विश्वको घेरता है।’ ‘ईश’ वह है कि जिसमें ‘ईशान शक्ति, हो। जिसमें शासन करनेका सामर्थ्य है वही ईश है, और वही इस विश्वपर प्रभुत्व करता है। इस विश्वमें बसना, रहना, घेरना, राज्य करना, इ पर अपना अधिकार प्रस्थापित करना यह सब ईश्वर अपने निज सामर्थ्यमें हा कर रहा है। किसी दूसरेसे सामर्थ्य प्राप्त करके वह ये कार्य नहीं करता। उसमें प्रचण्ड शक्ति है, इसलिये वह इस प्रचण्ड विश्वपर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करता है। अर्थात् ‘सामर्थ्यसंपन्न जो होगा वही यहाँका शासक हो सकता है।’ निर्बल के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है। निर्बल रहनेवाले गुलाम या दास रहें। पर जबतक ये सामर्थ्यसंपन्न नहीं होंगे तबतक ये शासक नहीं हो सकेगे।

एक दशका बीग दूसरे देशमें जाता है, वहाँ वह रहता है, वहाँके लोगोंको घेरता है, उनको दास बनाता है, उनपर राज्य करता है। इस इतिहासका एक

ही कर्म है और वह वह कि उस बीरके अन्तर देश प्रजासम कलेख सामर्थ्य का और उस हस्त बने एतरे वह भी का। सामर्थ्यके द्वारा अपने सामर्थ्यसे यह सब विजय बसने सेले तथा प्रमुख करनेयोग्य है। सामर्थ्यहीनके वह कर्म नहीं होता। इसी कारण मनुष्यके सामर्थ्य का, मशीनी और मनुष्य-बलिके कुछ करना बलिके। अन्धप्रयत्न विज्ञान एतद्वारणसे यह तह बोझर ही जाती है। ये विज्ञान विज्ञानके मनुष्यका सामर्थ्य बढायेले है।

धर्म नहीं बल है इसे भला है' इसका जर्म यह है कि मुख्य राज्य-
कायक प्रमानी धर्मों सामर्थ्यपूर्ण हीनता कहिये। इसी तरह छोटे मोटे राज्य-
पुनः जर्म राज्यके अधिकारी भी सामर्थ्यपूर्ण ही होते कहिये, अनिश्चय
अन्यथा पुनः निर्दल विचित्र जर्म सामर्थ्यपूर्ण नहीं होना कहिये। यह भी
बोच कुछ जर्मों ही प्राप्त हो सकता है। इसका अधिक दृष्टीकरण करनेका
नहीं आवश्यक नहीं है। इसका यह स्पष्ट है। तथा और कहिये—

प्रजापते न त्यत् एतानि मय्यो निष्ठा आत्मानि परि ता वमूषा
(अ. १ / १३११)

हे प्रजापति ! तुमने भिन्न ऐसा कोई नहीं दे कि जो इस तारि निधन प्रसून कर सके। लूरी सबसे जायेक समर्पण है इसलिये तुम्हारा कर्म इस निधन ही था है।

[illegible]

को नियुक्ति करते हैं। ” ऐसा प्रत्येक स्थानके अधिकारीके विषयमें हमें कहना चाहिये । ऐसा सुयोग्य पुरुषही उस स्थानके लिये नियुक्त किया जावे । राष्ट्रमें इस स्थानके लिये जितने पुरुष योग्य हैं उनमें यह अधिक योग्य है इसलिये इसकी नियुक्ति की जाती है । यह सर्वसाधारण नियम हुआ ।

यह इस जातिका है । यह मेरा सबधी है, इसलिये इसे मैं नियुक्त करता हूँ ऐसा कहना योग्य नहीं है । यह पुष्ट इस कार्य के लिये अत्यन्त योग्य है इसलिये इसको हम नियुक्त करते हैं ऐसा कहना चाहिये । यह नियम सावध रहकर पालन करना चाहिये । सूक्ष्म मननपूर्वक इस तरह मन्त्रोंका विचार करके राजकीय बोध प्राप्त करना चाहिये ।

वेदमें ऐसे सहस्रों मन्त्र हैं कि जो देवताओंका वर्णन करनेके विषयसे राज्यशासनका संदेश दे रहे हैं । पाठक इनका अवश्य इस दृष्टिसे मनन करें और वैदिक राज्यशासनविषयक बोध प्राप्त करें ।

ईश-उपनिषद्

‘ ईश-उपनिषद् ’ यह अध्यात्मशास्त्रका वैदिक ग्रन्थ है । यह सामर्थ्यकी विद्या है । यह सब अन्य उपनिषदोंका मूल आदि स्रोत है । सब अन्य उपनिषदें इस ईशोपनिषद्के सिद्धान्त ले लेकर और उनका विस्तार करके बनी हैं । इस पुस्तकमें ईशोपनिषद्के मन्त्रोंका सरल अध्यात्मिक अर्थ दिया है और उसके पश्चात् यही अध्यात्मका सिद्धान्त राजकारणमें किस तरह परिवर्तित होता है और उससे किस स्वरूपका राज्यशासन-प्रबंध-विषयक बोध मिलता है, यह बताया है । अर्थात् यह सब संक्षेपसे बताया है । विस्तार करना हो तो बहुतही ग्रन्थ बढ़ाना पड़ेगा । यह विस्तार कोई राजनीतिज्ञ जितना चाहे उतना कर सकता है ।

यहां इसका विशेष विस्तार न करनेका और भी एक हेतु है वह यह कि, इस तरह अध्यात्मके सिद्धान्तोंका राज्यशासनमें रूपान्तर करनेका प्रयत्न ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदोंके प्रतिपादनको छोड़कर, किसी आचार्यने अथवा किसी

समाजमें इस सम्पत्तक बड़ी किता है । इस तपस्या बड़ी पवित्र सम्पत्त है । हमने भी यह ईश्वरोपनिषद् कई बार रिश्वी-मण्डलीमें अनुवाद और स्पष्टीकरणके साथ सुनिष्ठ किया था पर जयमें भी हमने इस तरहका राजकीय स्पष्टीकरण नहीं किया था ।

ब्रह्मत्व-आत्मत्व-तपनिषद् सम्बन्धी पढ़नेसे अन्धकारमें, अविमृत्तमें और अविद्वेषतमें सिद्धांत एक पड़े हैं । वेदमंत्रोंमें बड़ी प्रशस्ती है, इसका स्पष्टीकरण हमने कबूतार अनेक जेजोंमें किया और इन नियमोंमें एका तथा समानता के बोझ भी अनेकवार प्रकाशित किये । इससे यह स्पष्ट हुआ था कि अन्धकारमें सिद्धांत ही अविमृत्त (समान का एकात्मत्व) तथा अविद्वेष में स्वस्वप्राप्तारित होते हैं, परंतु आमतक हमने भी संपूर्ण ईश्वरोपनिषद्का राजकीयसमन्वितक मत प्रकाश करनेवाला केव नहीं किया था यह ऐसा केव प्रथमवार ही प्रकाशित किया जा रहा है । यह किता ब्राह्मण-आत्मत्वमें है अतः प्राचीन है, तथापि उसके पचास इसका किशोरे केवलगत प्रकाशन व करनेसे यह बर्तमान प्रणीत हो सकती है । गुणार्थ होती हुई वह प्रकृति गूठन ही होकर प्रकृति है । अतः इस विषयमें विवेचन हमने जेजोंमें ही किया है । इस प्राचीन पद्धतिध विचार मानके सिद्धांत भी बड़े और इसके गुणवर्धन तथा म्पूत्राधिक्य का प्रकाश करें और अपने विचार प्रकाश करें । सिद्धांत पठक अपने विचार केवलगत करने प्रकाशित करेंगे तो अपने अविद्वेष संकीर्ण प्रकाश करनेके किये अनेक सुनिता होगी । और इसी तरह विद्वानोंके ज्ञानोपदे यह काव्य कभी न कभी परिपूर्ण और विनीत हो ज्ञेया ।

वेदमंत्रोंमें मुकमत प्रत्येक का गुणवर्धन है । इसीका सर्वत्र कात्या ज्ञानतन्त्र मन्त्र, परमज्ञ, इन मंत्रों, अग्नि, सूर्य अग्निधन गान वायु अग्नि अनेक नामोंसे विभिन्न वर्णोंमें है । किसी स्तानत्र स्पष्ट पठित और किसी स्थानपर पुन पठित है ।

सबसे बेदा पठपदं नामजान्ति (अर्थवत्)

‘सब वेद (मन्त्र) जिस पदका वर्णन करते हैं’ वह परमपद है । वही परमात्मपद है । यही ‘ईश्वर’ है ।

वेदैश्च सर्वैरह एव वेद्यः ।

(गीता १५।१५)

‘सब वेदमन्त्रोंद्वारा मेरा (ईश्वरका) ही वर्णन हुआ है ।’ इस तरह परमेश्वरका वर्णन अनेक पद्धतियोंसे वेदमन्त्रोंमें हुआ है ।

अब यह बात सबको विदिन है कि जिसे हम ‘ईश्वर’ कहते हैं वह राजाओंका राजा और महाराजाओंका महाराजा है । अर्थात् सबसे श्रेष्ठ राजा-धिराजका वर्णन ही ईश्वरका वर्णन है, जो वेदमें है । यदि हमें सबसे श्रेष्ठ ज्येष्ठ-राजका वर्णन विदित हुआ, तो उससे हमारे पृथ्वीपरके छोटे राजाके गुणोंका भी पता लग जायगा । इतना ही है वह ज्येष्ठराज (ईश्वर) सदा निर्दोष कर्म करता है और हमारे राजा और हमारे राज्याधिकारी मानव होनेके कारण प्रमादशील हैं । यह हो, पर ईश्वरके वर्णनसे हमें आदर्श राजाका वर्णन तो अवश्य मिलेगा ही । अर्थात् वेदमें आदर्श राज्य, आदर्श राज्यशासन, आदर्श राजा और राजपुरुषोंका वर्णन है ऐसा कहना किसी तरह अत्युक्तिका नहीं होगा । इसी तरह वेदमन्त्रोंसे राज्यशासन प्रकट हो सकता है और यही अध्यात्म तत्त्वोंपर अधिष्ठित राज्यशासन है । उदाहरणार्थ—ईशोपनिषद्के अष्टम मन्त्रमें—

कवि मनीषी परिभू स्वयम्भू । (ईश ८, वा य ४०।८)

ये पद परमेश्वरका तथा पूर्ण पुरुषका वर्णन करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं । यह वर्णन राजाधिराज ज्येष्ठराज परमेश्वरका है । अर्थात् यही वर्णन आदर्श राजाका है और हमारा आदर्श राजा ‘ज्ञानी, सयमी, प्रभावी, पराक्रमी और स्वावलम्बी’ हो यह बोध इससे मिलता है । इस तरहका राजा वेदोंके राज्यशासनमें होना चाहिये, ऐसा कहना किसी तरह अत्युक्तियुक्त नहीं हो सकता । यही पद्धति है कि जिससे वेदोंके राज्यशासन अथवा अध्यात्मपर

अविच्छिन्न राज्यशासन निरु हो सकता है । यह पद्धति है कि विद्युत् वेधनी-
यन्त्र वर्तन राज्यशासनमें राजा का कार्य है और यह विद्युत् रोशिये अका का
कार्य है ।

इस तरह इस पद्धतिसे ईश-कर्मिबद्धारा शासना राज्यशासन नष्ट
नहीं है । पाठक इसका निम्न विचार करें ।

लेखक

श्री दा सातबडेकर

स्वाध्याय-मण्डल

आत्मशासन पारङ्गी वि सूरत

पीठ नु १५ सितम्बर १ १

ईश-उपनिषद्

[गुरु-शिष्यका संवाद]

स्वाध्याय-मण्डनके आनन्दाश्रमके वेद-महाविशालयमें गुरु शिष्योंका मिल-कर वेदमंत्रोंका स्वाध्याय चल रहा था । उसमें ' ईश-उपनिषद् ' अर्थात् वाजसनेयी अथवा ऋग्वेदसंहिताके ४० वें अध्यायके विषयमें जो वार्तालाप हुआ वह इस तरह है—

शिष्य—गुरुजी ! मुझे ' ईश-उपनिषद् ' का अभ्यसन करना है ।
उपमा पठाइये ।

गुरु—इसमें पढ़ानेका कुछ भी नहीं है, पढ़नेका ही सब कुछ है । आप पढ़ते जायें, जहां कठिनाता आजाय वहां आप पूछिये । यदि कुछ हमें विदित हुआ तो हम बता देंगे, अन्यथा हम दोनों अधिक अन्वेषण करेंगे और ज्ञान सत्य प्राप्त करेंगे उसको आचरणमें लानेका प्रयत्न करेंगे ।

शिष्य—' ईश-उपनिषद् ' इस प्रपञ्चका नाम है । इसका प्रारम्भ ' ईशा वास्य ' इन शब्दोंसे होता है ।

ईशोपनिषद्के नाम

गुरु—यह सत्य है, पर ' ईशा ' इस पदसे इसका प्रारम्भ होता इसलिये जैसा इसका नाम ' ईश-उपनिषद् ' है, वैसा ही ' ईशा वास्य ' ये पद प्रथम शब्दसे इसको ' ईशा वास्य उपनिषद् ', भी कहते हैं । इसी तरह इसके अन्य नाम ' आत्माध्याय, ब्रह्माध्याय, आत्मोपनिषद्, ब्रह्मोपनिषद् ' ये भी हैं । क्योंकि इसमें ' आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म ' के विषयमें वर्णन है । हम इसका नाम ' सामर्थ्य-विद्या ' ऐसा भी रख सकते हैं क्योंकि यह सचमुच " सामर्थ्य प्राप्त करनेकी विद्या " है । नरका

वायव्य शीतल जिन कलेबो यह निहा है । इसलिये इसका नाम 'सामर्थ्य-विद्या' होना स्वाभाविक है और सोचनी है ।

शिष्य—तर्तु आनन्द किधोसे ऐसा नहीं कहा ।

गुरु—हां ऐसा नहीं कहा वह सत्य है । आप-बोध बोध वेदका सम्भव करते आये वेते वेते आपको आनन्द किधोसे न कहीं गते कहीं पौषी और सोचनी भी पौषी । नहीं तो वेदके सम्भवका परिणाम होना है और होना भी चाहिये । क्योंकि आनन्द बहुत कठिनमें मूल वैदिक संविद्याओंका सार सम्भव नहीं हुआ, इसलिये वेद-विद्या अज्ञात ही रही । वह इस तरहके सम्भवके एक प्रकाश होगी । और तब तब वैदिक आवेष्ट प्रकाश होते ही रहेंगे ।

शिष्य—यह ठीक है, पर आप इस अवस्थाके सामर्थ्य-विद्या किधो प्रमाणसे कहते हैं ?

सामर्थ्यकी विद्या

गुरु—वह प्रमाण क्या सम्भव है । इसका नाम ईश-उपनिषद् तो है वह नाम एक वाक्यो है । परम मायका होनेकी यह विद्या है इसमें भी किधी को कोर्न कोर्न नहीं है । "मायका कले" यह गर्व ही यह है कि "ईश्वर का शक्ति प्राप्त करना । यहही शक्ति प्राप्त करके किन्ना कोर्न भी नर मायका बन नहीं सकता । इस कारण इसको हम मायका-विद्या ऐसा भी कह सकते हैं । इसका अर्थ नाम ईश-उपनिषद् है । उपनिषद् यह गर्व निहा है । वैदिक सम्प्रदाय के वि-मंडलिका होती थी और उन समानोंमें वाता प्रकाशके मायका सम्भवके विद्याओंपर निष्पन्न होते थे । उन समानोंका नाम उपनिषद् था । उन समानोंका भी निर्माण होता था उनको भी उपनिषद् ही कहा जाता था । परिणत ही उपनिषद् है । वह वाक्य की शक्तिमा था वह ईश-उपनिषद् और ऐश्वर्य शक्तिमा ऐश्वर्य-उप-निषद् नाम भी प्रविष्ट है । ऐसा ही वह ईश-उपनिषद् है ।

शिष्य—गहाँ ईश जन्मका क्या महत्त्व है ?

गुरु—‘ ईश ’ शब्द मंगलवाचक है, इसी तर्ज ‘ ईश ’ वाच्य ‘ जिसके पास ईश्वर करनेकी शक्ति है, जिसमें स्वामी होनेका सामर्थ्य है, जिसमें राज्य शासन करनेका बल है यह ईश होता है । ’ ऐसा ईश बननेकी यह विद्या है । इसके पढ़नेसे सामर्थ्य प्राप्त करनेका मार्ग विहित होता है इसीलिये इसको ‘ ईश-उपनिषद् ’ कहते हैं ।

शिष्य—इस ईशोपनिषद् के पढ़नेसे मनुष्य सामर्थ्यधर्य तो सस्ता है ?

गुरु—नहीं नहीं ! केवल पठनमात्रमे नहीं, पहिले पठन करना, पश्चात् उसका अर्थ जानना, तदनुसार उसका मनन करना, उस ज्ञानसे अपने जीवनमें उलाना और अन्तमें ऐसा बनना है । इतना अनुष्ठान करनेसे साधक मनुष्य ईश्वर-सामर्थ्यमे युक्त हो सकता है । अर्थात् ईश बन सकता है । ईश बननेका ही अर्थ सामर्थ्यसंपन्न होना है । जिसमें सामर्थ्य नहीं है । ऐसा कोई भी निर्वल पुरुष ईश बन ही नहीं सकता ।

शिष्य—हां ! अब मेरे ध्यानमें आया कि यह ‘ ईश-उपनिषद् ’ है अर्थात् यह ‘ सामर्थ्य प्राप्त करनेकी विद्या ’ है । अब आगे इसका ‘ शान्ति मंत्र ’ यह है ।—

ॐ पूर्णं अद , पूर्णं इद , पूर्णात् पूर्णं उदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णं आदाय , पूर्णं एव अवाशिष्यते ॥

ॐ शान्ति , शान्ति , शान्ति ॥

इसमें ‘ ॐ ’ यह पहिला शब्द है । इसका तात्पर्य क्या है ?

श्रेष्ठ बननेका ध्येय

गुरु—‘ ॐ ’ का अर्थ ‘ सरक्षण ’ है । हमारा सबका सरक्षण हो यह इसका अर्थ है । ‘ अ-उ-म ’ ये तीन अक्षर इस ओंकारमें हैं, इनका अर्थ क्रम-

से अहि-उत्तम-मानवीय है । यदि अर्वाह पाईया वन्य अहिसे उत्तम अर्वाह भेद बनवा चाहिये और मानवीय वन्य चाहिये । ये तीन आदेश ओझरके तीन अधुपधे प्रकट होते हैं ।

अकारः -- भाविह्य भवति० ।

अकारः -- उत्कर्षति इ धी जानसठति ।

मकारः -- मिनोति इ वा पतत्सर्वम् ॥ (माहूजन ७ १११)

धर्मों प्रथम होना सबसे अधिक उत्कर्ष प्राप्त करना और अन्त परिमाण जानना यह धामर्ष से ही हो सकता है इस ओझरसे भी पता चलता है कि यह धामर्ष-प्राप्तिके बिन्दु ही अनुष्ठान है ।

शिष्य—ओझरके अ-उ-य ने तीन अक्षर अपना उत्कर्ष एवं प्रकाशसे करनेका आदेश दे रखा है यह बात बच मेरे प्यालमें अचली है ।

गुरु—इतनी ही बात इसमें क्या है । माहूजन उपनिषद्में इसका निरूपण और भी मननपूर्ण देखनेयोग्य है—

आगरितस्यासोः अकारः

समस्यागः अकारः

सुपुतस्यावः मकारः

(माहूजन ७ १११)

अक्षरसे आणति अक्षरसे स्वप्न और अक्षरसे अक्षर विद्या ने मानवी जीवनकी तीन अवस्थाएं बना बतानी हैं । आणतिके एवं व्यवहारीमें प्रथम-उत्कर्ष-प्राप्त करना चाहिये स्वप्न की अवस्थाके जाने चाहिये और सुपुतिपर भी प्रभुत्व चाहिये । मानवी जीवन की इन तीनों अवस्थाओंमें उत्तम मान उठना चाहिये । यह कहाँ स्थित होता है । यही मानवीय मूल्यों की पूर्ण अवस्था है ।

शिष्य—मेरे समक्षमें आया कि ओझर हाथ मानवी उत्पूर्व जीवन बताना है और इस उत्पूर्व जीवनमें मानवको उत्कर्ष प्राप्त करना चाहिये यह कहाँ

सूचित होता है । सचमुच सामर्थ्यके बिना यह नहीं होगा । अब इसके आगे 'पूर्ण अदः, पूर्ण इद' यह मन्त्र है, इसका अर्थ 'वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है' ऐसा दीखता है । यहाँ किसी वस्तुका निदर्श नहीं है । (अद इद) 'वह' और 'यह' इससे किसका बोध हो सकता है ?

यह विश्व पूर्ण है

गुरु—'पूर्ण' शब्दका अर्थ तो सब जानते हैं, पूर्ण, जो न्यून नहीं, जिसमें किसी तरह कीनता या न्यूनता नहीं, सब प्रकारसे जो-जैसा होना चाहिये वह वैसा है अतः वह पूर्ण कहलाता है । 'अदः पूर्ण' वह ईश्वर पूर्ण है, वह अपूर्ण नहीं है, वह जैसा चाहिये वैसा सर्वगुणसम्पन्न है । उसमें किसी तरह से न्यूनता नहीं है । 'पूर्ण इद' 'यह विश्व भी पूर्ण है' यह विश्व भी जैसा चाहिये वैसा गुणसम्पन्न है, इस जगत्में भी अपूर्णता नहीं है ।

शिष्य—'पूर्ण इद' यह विश्व भी पूर्ण है यह हम कैसे मान सकते हैं ? सब लोग कहते आये हैं कि यह जगत् क्षणिक, दुःखमय, दोषपूर्ण, हीन तुच्छ, हेय, त्याज्य, बधन और पाशरूप है । और आप कह रहे हैं कि यह विश्व भी पूर्ण है यह कैसा माना जा सकता है ?

गुरु—सब तत्त्वज्ञान अनुभवसे माना जा सकता है । इस विश्वमें आकाश, सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ, पर्जन्य, जल, वृक्ष, वनस्पति, अन्न, भूमि आदि पदार्थ हैं । क्या ये सब पदार्थ जैसे चाहिये वैसे नहीं हैं ? क्या सूर्यमें कुछ न्यूनता है ? क्या भूमिमें आप कुछ सुधार सुझाना चाहते हैं, क्या वायु जैसा चाहिये वैसा नहीं है, क्या इनमें कुछ अपूर्णता कोई देख सकता है ? क्या इनका सुधार कोई करके दिखायेगा !

शिष्य—सूर्य-चन्द्र-वायु-जल-पृथ्वी आदि सब पदार्थ जैसे चाहिये वैसे हैं, इनमें कोई अधिक सुधार सुझा नहीं सकता, न कोई सुधार कर सकता है । निःसंदेह ये सृष्टिके पदार्थ जैसे चाहिये वैसे ही हैं । अर्थात् ये पूर्ण हैं, निर्दोष

जी है । तुरन्त कोई दोष नहीं है, वैधे ही वास्तु-आदि-बहु आदि में भी दोष नहीं है ।

शुद्ध—इत्यादि ही नहीं परंतु नाम अमर, वेधे, दोष अकार, अगूर, वाक्क नेह, कने तु मून आदि जालेकी वस्तुअभि भी क्या कोई हीनता है ? ये सब पदार्थ वैधे चाहिने वैधे नहीं है ?

शिष्य—ये भी पदार्थ वैधे चाहिने वैधे ही हैं ।

गुरु—इसीप्रकार कहा है कि पूर्ण ही वह निष्ठा भी पूर्ण ही है । इस निष्ठा में कोई न्यूनता नहीं है । जो वस्तु वैधे चाहिने वैधे ही है । का अर्थ वैधे चाहिने वैधे ही वह नहीं है ।

शिष्य—फिर शुद्ध भगवान् इस निष्ठा में सर्वे साधिका सर्वे दुःख वैधे कनी कहते हैं ? वैधे ही सब कुछ महान्त कहते हैं । ये वैधे कनी कहते हैं ? इनके मतमें तो वह निष्ठा सत्य है । आप इस निष्ठा में पूर्ण कहते हैं वह वैधे वाक्क का अर्थ है ?

साधिकाबाद और दुःखबाद

शुद्ध—शुद्ध भगवान् तथा आधुनिक फल महान्त इस निष्ठा में हीन कहते हैं वह कनी है पर शुद्धपूर्व वैधे वाक्क कनी निष्ठा हीन और काम्य नहीं कहा है । परंतु 'सर्वे आत्मन्मय' कहा है । वह निष्ठा आत्मन्मय है वैधे कहनेका अर्थ ही वह पूर्ण है वैधे है । अर्थात् आधुनिक मतका यह भी कर्तव्य वह यदि वैधे कहनेका होना तो हम सबको दूर वैधे वैधे कहनेका स्वीकार नहीं करेंगे । जो वैधे कहनेका है वैधेका हम स्वीकार करते हैं । वैधे कहनेका निहित होनेका अर्थ प्राप्त सिद्धांत स्वर्ण ही चाहिने होते हैं । इस निष्ठा में वैधे कहनेका कोई किसी फल आत्मन्मयता नहीं है ।

शिष्य — इस समय तो कनी मान रहे हैं कि वह अमर ही और शुद्ध है ।

शुद्ध—कनी वैधे को कहते हैं । हम नहीं वैधे कहनेका हीनता सिद्धांत

कहा है उसका मनन कर रहे हैं । इसलिये वेद तो यह कह रहा है कि 'पूर्ण इदं' यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला विश्व पूर्ण है, हीन और तुच्छ नहीं है । इसका हेतु भी है—'पूर्णात् पूर्णं उदच्यते' अर्थात् 'पूर्ण परमात्मासे यह उदित हुआ है ।' पूर्ण परमात्मा की यह कृति है, पूर्ण परमात्मा का यह प्रसव है । परमात्मा पूर्ण है इसलिये उसका यह कृति भी पूर्ण ही है । यह हेतु देकर इस विश्वको पूर्ण कहा है, इसलिये इसमें पूर्णतामें किसीको भी शक्य करना नहीं चाहिये ।

शिष्य—'पूर्ण इदं' का अर्थ 'यह विश्व पूर्ण है' ऐसा अर्थ कैसे हुआ ? यदा जगद्वाचक कोई पद नहीं है ।

गुरु—यदा जगद्वाचक पद नहीं यह मत्व है, पर 'इदं' यह पद प्रत्यक्ष दीखने वा अनुभवमें आनेवाले जगत् के लिये यदा आया है । जो अनुभवमें आता है, जिसके अस्तित्वके विषयमें किसीको भी शक्य नहीं है वह 'इदं' (यह) है । सूर्य, चन्द्र, तारागण, मेघ, अग्नि, जल, वनस्पति, पृथिवी मनुष्य, पशु पक्षी ये पदार्थ दीखते हैं, आकाश, वायु आदि अदृश्य पदार्थ हैं पर वे हैं, इसलिये ये सब 'इदं' (यह) करके बताये जाते हैं । यह सब विश्व है और यह पूर्ण भी है क्योंकि इसकी रचना पूर्ण परमेश्वरने की है । उत्तम चित्रकार जो चित्र करता है वह उत्तम ही होता है, उत्तम मूर्तिकारसे जो मूर्ति बनती है वह उत्तम होती है । इसी तरह सर्वश्रेष्ठ कुशलकारीगर परमेश्वर से यह विश्व बना है इसलिये यह पूर्ण है और यह अपूर्ण तुच्छ, हीन, हेय नहीं है ।

शिष्य—गुरुजी ! जो आप कह रहे हैं, यह सब आजकल जो उपदेश किया जाता है, इसके विपरीत दीखता है । क्योंकि आजकल ऐसा कहा जाता है कि 'यह जगत् दुःखदायी है, बधनकारक है, त्याज्य है, इसको त्यागनेके बिना परमेश्वर प्राप्ति नहीं होगी इ०' और आप कह रहे हैं कि यह विश्व पूर्ण है, यह कैसे ?

शुद्ध—यों बेवका सिद्धान्त मन्वींछात प्रकट हो रहा है वह मैं नहीं बोल रहा हूँ । मन्वीं अद्भुत विचार और प्रयत्न के होते हैं इसलिये वे अपने अज्ञान से जो कुछ बोल रहे हैं उसको हट करवा है और वैदिकिद्वान्तोंसे प्रकट करावे, आपि मन्वीं विचार करके तथा अपना अद्भुत वेदप्र प्रयत्न बालोंसे हट करवा है । इसलिये जो बोध कर रहे हैं उनकी शुद्ध वेदके सिद्धान्तोंके ध्यान करते अपना हुन्में बोध है ।

शिष्य—ठीक है हम उस देवा ही करते आये । अब एक कथा आती है वह यह है कि यदि यह पूर्ण विश्व उस पून परमेश्वरसे निकल आया है तो उस पूर्ण परमेश्वरमें कुछ न कुछ न्यूनता आनी चाहिये वह तो पदिके वेद परिपूर्ण नहीं रह सके ?

गुरु—मन्त्र कहता है कि 'पूर्वस्व पूर्ण आत्माय पूर्ण एव अवशिष्यते' पूर्ण परमेश्वरके अन्तरसे यह पूर्ण विश्व बाहर आनेके पश्चात् वह परमात्मा वैसा पदिके वा वैसा ही पूर्ण विनिर्गुण भी न्यूनता कहीं न आती हुई वैसा ही वैसा परिपूर्ण रहता है । अन्तरमें $x = y$ $x = y$ $x = y$ अन्तरका पदिके ऐव होता है । अन्तरसे अन्तर विनिर्गुण पर अन्तर ही अवशिष्ट रहता है । वैसाही नहीं समझना चाहिये । अद्भुत का वाच भी देवी ही है । एक दोपके अन्तर दोप अन्तर पर भी पदिके ही वैसा ही वैसा रहता है । एक विनिर्गुण में अनेक लक्षण विनिर्गुण विनिर्गुण अनेक विनिर्गुण भी होती होती कर कर जाती है । अन्तरमें अपनी सब विनिर्गुण विनिर्गुण को पदिके तो शुद्ध विनिर्गुण अन्तर नहीं होता पर कहीं विनिर्गुण कर जाती है । इस तरह पूर्ण परमेश्वरसे इस विनिर्गुण विनिर्गुण अनेक विनिर्गुण वैसा ही वैसा ही सामर्थ्यलक्ष अद्भुत परिपूर्ण रहता है । कहीं कुछ भी न्यूनता नहीं आती है ।

शिष्य—यह तो अब समझमें आया है । पूर्ण परमेश्वरसे इसी विनिर्गुण अन्तर प्रकट होनेपर वह वैसा वा वैसा ही परिपूर्ण है और वैसा ही परिपूर्ण

रहेगा । कितने भी विश्व निर्माण हुए अथवा कितने भी विश्व उसमेंसे निकल गये तो उसमें कुछ भी न्यूनता आनी नहीं है । यह समझमें आगया । अब इसके आगे 'ओं शान्तिः शान्ति शान्ति ' ऐसी तीन बार शान्ति है वह किस लिये ?

गुरु—ओंकार का अर्थ तो इससे पूर्व बताया ही है । ' हमारी सुरक्षितता होनी चाहिये, हमें पहिला, उत्कृष्ट ज्ञानवान् और माननीय होना चाहिये ' यह ओंकार का आदेश इससे पूर्व बताया है ।

शिष्य—हां ! ठीक है, वह हमारे ध्यानमें है । पर तीन बार शान्ति किस लिये कही है ?

विश्वशान्तिका ध्येय

गुरु—(१) व्यक्तिमें शान्ति, (२) समाज या राष्ट्रमें शान्ति और (३) विश्वमें शान्ति ऐसी तीन स्थानोंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये, तीनों स्थानोंपर शान्ति स्थापन हुई तोही विश्वमें सच्चा शान्ति स्थायी रूपसे रह सकती है अन्यथा नहीं । ' विश्वशान्ति ' का वैदिक धर्मका ध्येय है, यह हम सब मानवोंनेही साध्य करना है, इसलिये मनुष्यके अपने आपको तैयार होना चाहिये । इस कार्यके लिये विशेष योग्यतावाला मनुष्य बनना चाहिये । प्रत्येक अपरिपक्व मनुष्य वह कार्य कर नहीं सकता । इसलिये प्रथम व्यक्तिमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये । व्यक्तिके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मामें शान्ति स्थापन होनेके लिये सुशिक्षा, सद्व्यवहार आदि अनुष्ठानके मार्ग हैं । इस तरह सब मनुष्योंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये, नहीं तो कई मनुष्य गुण्ड रहे, तो वे समाजमें उपद्रव मचायेंगे । इसलिये मनुष्य मात्रमें सुशिक्षा, सुनियम, उत्तम अनुशासन आदि द्वारा शान्ति स्थापन होनी चाहिये । इसी तरह राष्ट्रों, समाजों और जातियोंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये । नहीं तो एक राष्ट्र उठेगा और जगत् भरमें उत्पाति करता रहेगा । इसलिये

निबोधनपूर्वक ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि जिससे जब राष्ट्रीय जाति स्थापन हो । ऐसा होकर जिसमें जाति स्थापन हो सकेगी । परंतु यदि जिसमें जाति स्थापन नहीं हुई और चारों ओर बंधने और कुछ होते रहे तो व्यक्ति को भी जाति नहीं मिलेगी और व्यक्तिही पूर्णता और भेदता भी नहीं हो सकेगी । इसीसे व्यक्ति-समूह-राष्ट्र-तथा जिसमें स्वायत्त जाति स्थापन करनेके लिये प्रयत्न होना चाहिये । यह ध्यान करना वैदिक धर्मका जोहूँ है । वैदिक धर्मका यह विस्तृत धर्मक्षेत्र है ।

शिष्य — यदि यह धर्मक्षेत्र वैदिक धर्मका है तो यह व्यक्ति नहीं हो सकता राष्ट्रधर्मके द्वारा ही यह साधन होलेगी संभावना है ।

गुरु — निरुक्त ठीक है वैदिक धर्म राष्ट्रीय धर्मही है । यह व्यक्तिवादाचार तथा राष्ट्रवादाचार करनेका परिपूर्ण धर्मक्षेत्र बनाने का प्रयत्न है और यही इस ईश्वरविश्वके द्वारा प्रयत्न हो रहा है ।

शिष्य — जब कहते हैं कि इस ईश्वरविश्वमें केवल अध्यात्मविद्या है, अर्थात् आप कहनाचके इसे नहीं । परंतु आप कहते हैं कि “यह राष्ट्रशासन का उत्सवका है और इसका अधोप राज्यशासनके लिये है वह कैसा ? यह तो विरोध ही क्यों रहा है ?

राज्यशासनकी विद्या

गुरु — आप जब सोच सकते हैं और आपको अपनी कर्तव्य बुद्धि-योग्यता चाहिये । और क्या करता है इसके बचाने के अन्तर अपनी बुद्धिकी मारता नहीं चाहिये । इसके निवारणके प्रसंगमें कहा है कि व्यक्तिगत जाति और समाजकी जाति तथा निरुक्तजाति स्थापन करना इस विचारका ध्येय है । यह तीन “जाति” परके पाठसे स्पष्ट हुआ अब विचारना यह है कि क्या यह कभी राजशासनके बिना ही संभव है ? कदाचित् कोई यह सकेगा कि व्यक्तिगत जाति व्यक्तिके द्वारा ही लक्ष्य है । पर सामाजिक राष्ट्रिय और निरुक्त जाति या मिश्रित राज्यशासनके प्रबंध द्वारा ही हो सकती है व्यक्तिगत प्रयत्नसे निरुक्तजाति कदापि स्थापन ही ही नहीं सकती । व्यक्तिगत जाति

ईश-उपनिषद्

[अध्यात्मज्ञानपर अधिष्ठित सामर्थ्यका राज्यशासन]

प्रथम सिद्धान्त—“समर्थका शासन”

(१) ईशा वास्य इव सर्वम् ।

(इवर्ण) वह सब दृश्यमान वस्तु (ईशा) ईश्वर (शासन) करने वाले व्यापक क्षेत्र है ।

(१) ईश्वर इस विश्वको चेतन और व्यापक है, इसमें वस्तु है और इसका प्रसरण कर रहा है । जिसके अन्दर ईश्वर-सत्ति है जिसमें शासन करनेकी शक्ति है वस्तुका नाम ईश्वर है । अतः वहाँ प्रथम सिद्धान्त यह बताना है कि “जिसमें प्रजापति करनेका सामर्थ्य होता वही इस विश्व पर शासक होगा ।” शासक बननी जिस अधिष्ठाता इस विश्वमें कार्य करता है । इस क्षेत्रपर केव शासन करना । इसका अर्थ यह है कि जिसमें शासन करनेका सामर्थ्य है वही शासन करेगा । जिसमें शासन सामर्थ्य नहीं होता वह शासन नहीं कर सकेगा । ईश्वरका शासन इस विश्वपर इसलिये हुआ है कि वह सबके लिये सामर्थ्यवान है । यदि वह निर्बल होता तो कदापि इस विश्वपर प्रभुत्व न कर सकेगा ।

ईश्वर केवल ईश्वर है इसलिये इस विश्वका शासक बना नहीं है, परंतु वह सामर्थ्यवान् है वह अधिक और बलवान् सामर्थ्यवान है इसलिये वह इस विश्वका प्रभु और प्रजापति हुआ है । इसमें विशेष ईश्वरशक्ति है इसलिये वह इस विश्वपर राज्य कर रहा है । यदि वहाँ प्रभु-शक्ति न होती तो वह इसका प्रभु नहीं कर सकेगा अतः ही वस्तुका शासन नहीं मिलेगा ।

एक वीर दूसरे राज्यपर आक्रमण करता है, उसको अपने सैन्य बलसे घेरता है, उस राज्यमें घुसता है, वहां रहने लगता है, वहां राज्य करता है, उस राज्यके लोगोंको अपना दास बनाता है, उनसे प्रणाम और पूजा लेता है इसका एकमात्र कारण यह है कि उस विजयी वीरमें वैसा सामर्थ्य है और उस पराजित राष्ट्रमें वैसा सामर्थ्य नहीं है। सामर्थ्य कम होनेसे ही पराभव या पारतन्त्र्य होता है। इसलिये वेदमन्त्रमें कहा है कि (ईशा इदं सर्वं वास्य) शासन सामर्थ्य जिसमें है उसके द्वाराही यह सब ससार घेरने व्यापने और प्रशासन करने योग्य है। निर्बलके लिये यहा शासक होनेकी कोई आशा नहीं है। निर्बल शासक हुआ तो उसको अपने स्थानसे अपनी निर्बलताके कारण हटना ही पड़ेगा। जो समर्थ होगा वही यहाका शासक हो सकता है।

शिष्य — 'ईश्वर सर्वत्र व्यापक है' इतना ही इस मन्त्रभागका अर्थ सद्य टीकाकार तथा प्रवचनकार मानते हैं। परन्तु आप तो इसका अर्थ राज्यशासन-व्यपक बता रहे हैं यह कैसे ?

गुरु — शान्ति मन्त्रके अर्थके मननमें तथा तीन शान्तियोंके मननसे हमने देखा कि, तीन शान्तियोंकी स्थापनाका कार्य बिना राज्यशासनप्रबन्धके नहीं हो सकता, अतः जो तीन शान्तिस्थापनाका कार्य है वह राज्यशासनप्रबन्धमेही होनेवाला है यह निश्चित है। यहा इस तत्त्वज्ञानका सबध राज्यशासनके साथ जुड़ चुका है। अब बात रही की 'ईशा इदं सर्वं वास्य' इसका क्या अर्थ है यह देखना। तो 'ईश' पदका अर्थ "स्वामी, अधिकारी, शासक, नियामक, राजा, शासनकर्त्ता, राज्यशासन करनेवाला" यह है। ये इसके अर्थ प्रसिद्ध हैं। अतः "शासक अपने शासनसामर्थ्यसे इस सब जगत्का शासन करनेयोग्य है" यही इसका मूल अर्थ है जो सर्वथा राज्यशासनका महत्त्वपूर्ण सदेश देता है, सब देशोंका राजकारणका इतिहास इसी सिद्धान्तकी साक्षी देता है। "ईशा इदं सर्वं वास्य" ईश इस सबमें बसता है, इस सबको आच्छादित कर रहा है, इसका शासन करता है, इसका प्रबन्ध करता है, इसका अर्थ ही यह है कि 'समर्थ

अपने धर्मार्थसे अथवा शासन करता है वह धर्म निर्णयके नहीं हो सकता । ईश्वर का धर्म ध्वजके दृष्टि आत्मा शरीर तथा वा अन्तरात्मा और अन्तरात्मा अथवा विद्यमान परमात्मा है । पर धर्म विनम एव ही है वह वह कि सामर्थ्यवात् अपने निज सामर्थ्यसे इस अगत् पर शासन करता है । राज्यशासन ही वह भाव है । क्योंकि निज आत्मन विद्वान्तर आत्म राज्यशासन ही अनुकूलताके यन्त्र ही होती है । ईश्वर के आत्मनिक लक्षणके विद्वान्तर राज्यशासन ही स्वयं विचारके विनो ही है । इस बातका आत्मनिक विचार नहीं कि ईश्वर भारतीयों ही है । परन्तु अन्तर ही ही पुनः व. ईश्वर मन्त्रिके विनो तो ही इस विचारके आत्मनिक विचार ही है । ईश्वर का विचार कि आत्मनिक विद्वान्तर राज्यशासन ही है । वह इस ईश्वर विचारके अन्तर देविक । अथ दूसरा विद्वान्तर देविक—

विद्वान्तर— समष्टि-व्यष्टि का सहकार्य

एवम् किंच अगत्या अमत् ।

यही ईश्वर (यही है) वह समष्टि के आधारके व्यक्ति (ईश्वर है ।)

(१) समष्टि अपने धर्मार्थसे इस अगत् पर शासन करता है । वह अन्तर समष्टि के आधारके व्यक्ति ऐसी पद्धति नहीं है । अथवा समष्टि का अन्तर एक मात्र व्यक्ति रहती है । अगत् एक पद्धति है और अन्तर अन्तरात्मा समष्टि अगती है । अन्तर के आधारके व्यक्ति रहती है । ईश्वर का आधार एक व्यक्ति रहती है । अन्तर का आधार एक व्यक्ति रहती है । अन्तरात्मा के आधारके व्यक्ति रहती है ।

व्यक्ति बाकी रहती है पर ईश्वर अमर है । एक ईश्वर मात्र है पर ईश्वर मात्र अमर है । समष्टि अमर (ईश्वर) ईश्वर अमर है । समष्टि अमर का अन्तर पर अगत् है पर अन्तरात्मा ही ईश्वर व्यक्ति ही तो ही वह अन्तरात्मा है । अन्तरात्मा ही अन्तर किंच मात्र तो ही व्यक्ति अमर नहीं हो सकती

परंतु सध अमर रहना है। व्यक्तिका आधार सध है। व्यक्तिका बल सधके आधारसे है। जो बलवान व्यक्त हुए उनकी सधका बल प्राप्त हुआ था। सधकी शक्ति पीठपर ही ता ही व्यक्ति समर्थ हो सकती है और वह उस सामर्थ्यसे समाज या राष्ट्रका शासन कर सकती है।

समाज स्वतंत्र है, व्यक्ति समाजका मामूली प्राप करके ही कार्य कर सकती है। इसलिये समाज मुख्य है और व्यक्ति गौण है। चूँके समाजके आधारसे व्यक्तिका अस्तित्व है, तथा व्यक्ति नाशवान् है, इसलिये सब धन ऐश्वर्य आदि सधका है, व्यक्तिका नहीं। धन किसी व्यक्तिके पास हो, पर उसपर समाजका अधिकार है और व्यक्ति केवल विश्वस्त है। जबतक उस धनका विश्वस्त होकर ही व्यक्ति कार्य करती रहूँगी, तबतक उससे कोई उपद्रव नहीं होगा। पर जिस समय वह विश्वस्त नहीं रहगी, उस समय वही धनी व्यक्ति समाजमें उपद्रव उत्पन्न करगी। इसलिये व्यक्तिको विश्वस्त होकर धनका उपयोग क ना चाहिये।

व्यक्तिके पास धन हो, पर मरनेके समय उस धनपर का उसका अधिकार नष्ट होता है, सब धन यहाँ छोड़ना पड़ता है। इसलिये सब जान सकते हैं और अनुभवसे कह सकते हैं कि धन व्यक्तिका नहीं। इसलिये यह धन समाजका है। क्योंकि समाज मरता नहीं, कमम कम व्यक्तिका अपभ्रांति समाज शाश्वत है। जो शाश्वत है उसीका सब धन है। उन्हींके सुख और आरोग्य के लिये सब धन है। इसमें व्यक्तिका सुख और आरोग्य आ जायगा।

समाजका शाश्वतपन और व्यक्तिकी अशाश्वतता देखनी चाहिये और व्यक्त तथा समाजका संस्कार कराकर दोनोंके विकास करनेका नियोजन नियन करना चाहिये। यह राष्ट्रीय नियोजनसे ही हो सकेगा। व्यक्तिके प्रयत्नसे कुछ बागा नहीं।

जगत्में भगवादी और व्यक्तिवादी ऐसे दो पक्ष प्रबल हैं। सधवादी व्यक्ति-को पूर्ण परतंत्र करके उसकी स्वतंत्रताको मारते हैं और व्यक्तिवादी

अब त्यागसे भोग देखिये । यह जितना चाहिये उतना किया जा सकता है । आपके पास बहुत अन्न हो तो बहनोंको आप खिला सकते हैं, खिलाइये और उनके समाधानसे आप अटूट समाधान प्राप्त कीजिये । यह त्यागसे भोग जितना चाहिये उतना हो सकता है और यह समाजका, सघका, जातिका, राष्ट्रका अथवा देशका बल बढा सकता है । सघके लिये यह हितकारी है । इसलिये त्यागसे भोग करना चाहिये यही युक्तियुक्त है ।

शिष्य—‘ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा ’ इस मन्त्रभागका अर्थ “उस ईश्वरने दिये भोगोंका भोग कर” ऐसा सब करते हैं और आपने तो ‘ इस हेतुसे त्यागसे भोग कर ’ ऐसा अर्थ किया है, यह कैसे युक्तियुक्त माना जा सकता है ?

गुरु—देखो ! ‘ तेन ’ यह पद उसके निकट पूर्वके पदोंके साथ सबध रख सकता है । बहुत दूर स्थित पूर्व पदोंसे सबध मानना यह दूरान्वय है । दूरान्वय दोष है । वेत्ता अर्थ करनेमें दूरान्वय दोष नहीं होना चाहिये । निकट पूर्वमें ‘ जगत्यां जगत् ’ ये पद हैं इनका अर्थ ‘ समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है ’ यह है । इसलिये ‘ इस हेतुके लिये त्यागसे भोग व्यक्तिको करना उचित है । ’ यह पूर्वापर सबध देखकर इसका सरल अर्थ हुआ । व्यक्ति सर्वथा समाजके आधारसे जीवित रहनेवाली है, इसलिये व्यक्तिको उचित है कि वह अपना सर्वस्व समाजके लिये अर्पण करे और समाजके ऋणसे उन्मुक्त हो जावे । यह हेतु बतानेवाला ‘ तेन ’ पद है । अतः इसका अर्थ ‘ इसलिये, इस कारण, इस हेतुसे, इस प्रयोजनसे ’ ऐसा है । यह पूर्वापर सबधसे अर्थ होनेसे यह युक्तियुक्त है और हम बता भी सकते हैं, कि ऐसा न करना दुःखका हेतु हो सकता है । यदि कोई व्यक्ति अपने पास सब भोग समग्र करके रखता है और समाजको उनकी समर्पण करता नहीं तो वह समाजमें दुःख बढाता है । कई व्यक्ति दुःख भागते हैं और वे दुःखित व्यक्ति बलवा मचाते हैं और सब समाज अस्वस्थ हो जाता है ।

जब बीर जी रोखिये । यदि तब त्यकेन भुञ्जीया । कभीय कर्म
'इच्छाये विने भोगोय भोग कर' ऐसा किछ बाक्का तो बरुच भाव यह
होना कि वो कब बिपके पाव है यह बरुचो ईच्छाये रिवा है ऐसा यह मने
बीर बरुच भोग यह करे । कबपति करोकपति तयकरे ही है कि कबये
कर कब करयेछाये रिवा है इसीने बरु बरुच बरुच बाबिछर है,
अता ये बरुच अपने मिय भोग कर करले है । यह कबियेने मिये केछ
बाबिने ईछा ही कर्म है जो भावने म्पहारके ककुचन भी कर्म है । पर
यह कर्म तन त्यकेन भुञ्जीया । इच्छा मही है । एक तो प मेच्छाये
चित्तये कना रिवा इसका भी पना नहीं होय । किसी तरह कुमाकुम
भायैने प्राप्त किया कर आये ही भोगके मिये है यह बाबुरी-छात है । इच्छा
कर्मरुच बड़ीय बीरमय भावने मनुष्यके समये रत्नोत्तम यह करे यह
मायका कभीय है । अता तब कब बड़च मिये है एका मेरुच भावन के
कर्मय भी बरुच जाता है कही कही मायका कर्मय है । बीर एव कब
कर्मिछा नहीं, बड़च मिये है समायके मिये है कनका कर्मयोग समायके
मिये जाना बाबिने ऐछ मायका कर्मय है । इसमिये "इन हेतुये बड़
करके बड़ाबड़िछा भोग मने मिये कही ऐना हमये कर्म किया है । बीर
कही कर्म बुद्धिबुध है बीर कही व्यक्तिका बीरय बड़नय कना-कनाय होमिये
आरत्ताय है ।

चतुर्थ शिक्षा—“छेयका स्वाय”

४ मा गृध” ।

छेय न घर । मत बरुच

(४) व्यक्तिके लीकले ही कनायों कनेक दुःख बरुच होत है । व्यक्ति
कपत निरुकेवाली कही कही है यह ता मायेवाली है । मिये भी कानके
मिये ता भी एक व्यक्ति कन म्पकनके कने कपत रह नहीं करत । अता
यह व्यक्तिने छेय बा-य करके यह कन मेरा है एका माककर कर्म कर्म

लिये अत्यधिक भोगोंका सप्रद किया, तो भी मृत्युके बाद वे सब भोग छोड़कर उनकी जाना ही पड़ेगा। सहस्रों यज्ञोंके करनेपर भी वह धन उस कारण उसका है ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण अशाश्वत व्यक्तिका धन नहीं है, उस व्यक्तिको वह धन छोड़ना ही पड़ता है। वह किसके पास वह देता है? समाजके पास देता है। लोग मानते हैं कि पुत्रके लिये छोड़ता है, पर यह धारणा भी अशुद्ध है, छाड़नेवाला समाजके लिये छोड़ देता है, पुत्र उसपर अपना अधिकार जमा देता है, पर वह भी अपने पिताके समान ही किसी दिन उसको छोड़ ही देता है। अतः अन्तमें वह समाजका होकर रहता है। अपुत्रका धन समाजका या राष्ट्रका होता है इसका अर्थ यही है, कि जिसका वह था उसके पास वह पहुँच गया। इसलिये किसी एक व्यक्तिका कोई धन नहीं है। उसका ज धन भी समाजसेवाके लिये ही है, उससे भोग भोगकर जीवित रहना है, तो वह समाजसेवा—जनताजनादनकी सेवा—के लिये ही है। इसलिये व्याक्ति यह समझे कि मैं इस धनका विश्वस्त हूँ और विश्वस्त जैसा व्यवहार व्यक्ति घरे और धनको समाजकी सेवा में लगाई अर्थात् उसका यज्ञ करे। धनका उपयोग यही है। अतः कहा है कि 'लोभका त्याग करो।' लोभसे ही सब दुःख होते हैं।

पञ्चम सिद्धान्त—“ धनपर प्रजापतिका अधिकार ”

५ कस्य स्विद् धनम् ।

“ किसका भला धन है ? ” (प्रजापालकका धन है ।)

(५) किमका धन है ? क्या व्यक्तिका धन है ? व्यक्ति शाश्वत नहीं रहती। इसलिये व्यक्तिका धन नष्ट है। फिर धन किसका भला है ? सोचो, विचारो, मनन करो। और विचारपूर्वक जान लो कि व्यक्ति जिन धनको छोड़कर चली जाती है वह धन समाजका ही होता है। जिसका सम्बन्ध था उसका वह हो जाता है। इसलिये पहिले ही से मान लो कि यह सब धन समाजका ही है।

का नाम प्रजापति था। यह एक प्रजापति ही प्रजापति नामके
 ऋषि ही यह नाम है। प्रजापति प्रजापति राज्य और प्रजापति नामा प्रतिनिधि
 है यह नाम प्रजापति है। इसके नाम प्रजापति है। और गरी प्रजापति
 नामके प्रजापति नाम प्रजापति यह राज्य प्रजापति ही प्रजापति।

प्रथम श्रमाय या पादु कास्तत रहयेवात्मा है व्यक्तिता याती तथी ।
 मूलमिने व्यक्तिताय वन यही परतु यह वन वन कम्पनरा है । जो व्यक्ति
 है वह उद्योग विव ध्यव होना उचित है । इत उद्योगको प्रवृत्त करनेके कारणसे
 क का अर्थ कल्पन कल्पनकारके कः है प्रजापतिः अर्थात् क
 का कार्य प्रजापति बताता है । प्रजापति प्रजाका पालक है और जो अपने
 पालन कर रहता है वह प्रजाकी पालकाके लिये ही रहता है । प्रजापति वह
 व्यक्ति यही है वह कल्पनकार है । एक प्रजापतिकी एक कत पर कही तो दूसरा
 प्रजापति उन कर्मालम्बमें आता है अथवा प्रजा दुनोको यही के कल्पन लिये
 नियुक्त होती है । इन तरह कल्पनकारके कर्मों प्रजापति स्वाधी रहता है । क्योंकि
 कल्प कल्पन रहयेवाती है इसी तरह प्रजापति कल्पनकारके कर्मों स्वाधी
 रहयेवाता है व्यक्तिताके उध्यो व रहे । इसलिये प्रजापतिाय वन और प्रजापति
 अथ इसका एक ही नाम है । इतन यह विद्व हूमा कि वन प्रजापतिाय तत्त्वाय
 है किसी एक व्यक्तिताय यही है । व्यक्ति तत्त्वत्वाके उध्यो वनको अपने पाल
 रखे, वर प्रजापति या मनुष्यको आत्मनयता कल्पन होनेपर व्यक्तिताके वह वन
 प्रजापतिताके उध्यो प्रमा व द्विदे ।

[illegible]

शिष्य—आपने तो कह कर एगलपल और चरमकई तरहमें बो
क्या वह मिलेह क्या मिलत है। अजकई दीवार मा धुंध कस्य
सिखड़नं यह कर्ष किरीच कस्य कोन न कर ऐसा करते है। आपने
इकडे हो इकडे किने और इधर पृथक् सिखान्य कस्य इकस एगलपलपल
कस्य कस्य। इसीने एह होता है कि मा धुंध। कस्य सिखड़नं है

ऐसे दो विभाग इसके हैं अथवा 'मा गृध कस्य सिद्धन' ऐसा एक ही यह वाक्य है ?

गुरु — टीकाकारोंने 'मा गृधः कस्य सिद्धन' ऐसा एक ही वाक्य मानकर अर्थ किया है यह मैं जानता हूँ। पर स्वज्ञानकी दृष्टिसे वह ठीक नहीं है। जिसके धनका अपहरण न कर यह कहनही ही आवश्यकता नहीं है। जो दूसरेका यह लेनेसे चोरी होगी और चोरी तो नहीं करनी चाहिये। यह बिना शर्त भी सर्वगान्य आचार है। यह धन दूसरेका है, इसीसे सिद्ध हुआ कि उसका अपहरण करना नहीं चाहिये। पर इससे अर्थापत्तिसे एक महा अनर्थकारक विचार प्रकट होता है वह यह कि—

'दूसरेके धनका तो तू अपहरण करके उसका भोग न कर, परंतु अपने धनका भोग यद्येच्छ कानमें कोई आपत्ति नहीं है।' यह राष्ट्रीय स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बड़ा अनर्थकारक और हानिकारक भाव है। समाज और व्याक्तिका समर्थकता कर फोड़ दे कि समाज स्थायी है और व्यक्ति मरनवाली है, इसलिये धन सब समाजका है, वह किसी एक व्यक्तिका नहीं यह उत्तम सिद्धान्त बतानेके पश्चात् यदि वेदने अपने धनका यद्येच्छ उपभोग लेनेकी अनुमति दी तो इसका पूर्वका सब धन ही टूट गया ऐसा सिद्ध होगा। और वह आयोग्य ही होगा। कई लोग करोड़पति होते हैं, वे अपने धनका स्वयं भोग करें यह वहना स्वार्थको बढ़ाना है, यह युक्तियुक्त भी नहीं। परिग्रह शक्ति व्यक्तिमें न रहेगी तो वह समाजकी शान्तिमें उपद्रव उत्पन्न करेगी। इसलिये मनुष्योंको अपरिग्रहशील और लाना चाहिये। इसलिये—

१ त्यच्चेन भुञ्जीथा = त्यागसे भोग कर,

२ मा गृध = लोभ न धर,

३ कस्य सिद्ध धन = किसका भला धन है ? (नि सदेह प्रजापालकका धन है।

ये तीन उपदेश अपरिग्रहशील और जनताको लेजाते हैं और सामाजिक शान्तिके लिये ये तीनों योग्य तथा आवश्यक भी हैं। इसलिये ऐसे ही विभाग

कण्डके जलै कण्ठा रोम्य ई ।' (१) आत्मो भूय (२) योगस्य सत्य (३)
अविच्छेदः । अथ यद्वा " न विद्यमान एक निश्चय पूर्वकी ओर वक्तव्यो जायसि-
कारत है । कण्डके स्वाभाव—

१. ईश्वरमे विनये भक्त्या भोज्य कर

১. খিঁচিতে কলার কচ ক ক ক

हमारे कार्य में अनेक उपयोग करने की आज्ञा ही है। इस अज्ञातिसे भूमीवर्षाव निर्माण होता है जो जलमय अक्षयि निम्न करता है। इनकी दृष्टिकोने (१) जलमय भूमि (२) जलमय जल (३) जल प्रवाहित है किन्तु एक स्थिति में भी वे उपदेश विवेक रूप सामाजिक व्यवस्था की आवश्यक कर रहे हैं और यह सामाजिक व्यवस्था अज्ञातिसे विवेक रूप जलमय की आवश्यकता है।

राज्य शासनमें इन विद्यालयोंका शासन होना चाहिये । अच्छे राज्यशासनमें इन विद्यालयोंका शासन होना है ।

५ विद्वत्-कर्मयोगका मातृवर्ण

९ कर्मभार कर्मणि ।

જાણી જાણીને કરીને જોઈને ।

[illegible]

लिये स्नान किया, ध्यायाम किया, भोजन किया, कपड़े पहन लिये तो विशेष कुछ न बना। इसलिये इनके क ने पर भी न कर्मानेके समान ही समाजस्थिति रहती है इसलिये ये 'अकर्म' हैं। ये करने सावधान्य चाहिये। पर इनने ही कर्मानेसे मनुष्य कृतकृत्य नहीं हो सकता। इस तरह विकर्म करने नहीं चाहिये, और अकर्म करने चाहिये, पर वे सामाजिक या राष्ट्रीय सामूहिक दृष्टि से न करनेके समान ही हैं। इसलिये अब अवशिष्ट रहे 'कर्म' ये हरएकको अवश्यमेव करने चाहिये।

कर्म वे हैं कि जो समाज, समष्टि, तथा राष्ट्रीय उत्थतिके लिये साधक होते हैं। सर्वजनहितकारक कर्म, जनताकी उत्थानके लिये आवश्यक तथा साधक कर्म। जैसा नगरका आराध्य सङ्क्षण, सवत्रनेक शिक्षण आदि सर्वजनहितके अनेकानेक कर्म इस कर्ममें आते हैं। इनका ही नाम यज्ञ है। ये भी श्रेष्ठतम कर्म होनेयोग्य करने चाहिये। कर्म, श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठतर कर्म और श्रेष्ठतम कर्म ऐसे इन कर्मोंमें भेद है। यत्न ऐसा करना चाहिये कि अपने द्वारा श्रेष्ठतम कर्म ही उत्तमसे उत्तम कर्म पूर्ण कुशलताके साथ उत्तम त्यागभावसे करने चाहिये।

ऐसे कर्म करनेका नाम ही कर्मयोग है। इसका आचरण करना प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य ही है। इनके करनेसे ही मनुष्य कृतकृत्य होता है। सार्वजनिकहितके कर्म करना इस तरह प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य है। ये कर्म करनेका आदेश यहाँ दिया है।

राज्यप्रबंध द्वारा ऐसी शासन-व्यवस्था होनी चाहिये कि जिससे मनुष्य अवनतिकारक विकर्म न करे। यदि कोई करे तो उसको राज्यशासन द्वारा योग्य दण्ड दिया जावे जिससे अन्य लोग वैसा हानिकारक कर्म न करें। प्रत्येकके अस्तित्वके लिये आवश्यक स्नान-भोजन आदि अकर्म प्रत्येक करे। इसमें कोई बाधा न आले ऐसा करना राज्यशासनका कर्तव्य है। प्रत्येकको, रहनेके लिये स्थान हो, स्नानके लिये योग्य अन्न हो, ओढ़ने पहनेके लिये

[illegible]

इस तरह अपने-अपने विभिन्न न विचारी तुल्यार्थ कार्यमें कुशल बख्से-
नाह अपने कार्यमें समझ ही क्या करनेके विषय आते हैं। यह कार्य करता रहे।
अपने कार्य ही राष्ट्र-पुनर्स्थापना का ही आधार है ; यह सब हाथों में कर और
कोई बड़ा कार्यमें प्रतिफल न कर सके ऐसी राजव्यवस्था है ।

सप्तम निष्ठागत— दीर्घायु बभौ "

७ त्रिशीबिपेष्टतं सुपाः ।

आ सर्व योगियों इच्छा करण करें ।

(७) कानपुरी होनेकी महत्वाकांक्षा समर्थ कारण करनी चाहिये । आज का कानपुर शहर का अत्यन्त बड़ा शराबखाना हुआ है । सभी आज सोचते हैं कि 'कह दुनिया सोचि की है' का वाक्यतः है का कंधा कमिष्ठ है । ये का निराश अवस्था है । वे का बुरा कामें करिहये और मै की वर्ष वाक्या की वर्ष प्रत्यक्ष करिहये की वर्ष मेह करिहये करता रहूँगा और ती कंधे की वाक्य कमिष्ठ रहूँगा । इन वैदिक विचार समर्थ कारण करने चाहिये । जो मेह इच्छा करता है वैसा का करता है । इसलिये कानपुरवासी की निराश होते हैं और कानपुर होनेकी इच्छा का मेहमे होनेकी होते हैं ।

[illegible]

अर्थात् विद्याभ्ययनकी आयु मिलकर २० वर्ष होते हैं । इस बीसवें वर्ष मनुष्य विद्वान् और अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्तिसे अपना भविष्य बनानेवाला होता है । अतः ये २० वर्ष और १०० वर्ष पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी आयु मिलकर १२० वर्षकी आयु होता है । २० वर्ष दानेपर ही तो वर्ष में जीतगा और उससे पाले नही मरगा ऐसी इच्छा मनुष्य कर सकता है । इस तरह माना आयु १२० वर्षकी है । फलज्योतिष जन्मपत्री बताते हैं वे विंशोत्तरी (१२० वर्ष आयु) मानकर करते हैं । दूसरा गणित अष्टोत्तरी (१०८ वर्षकी आयु) मान कर लिया जाता है । इस तरह १०८ या १२० वर्षकी आयु सामान्यता ज्योतिषमें मानी है । इसलिये १०० वर्षकी आयु अपनी दो एका इच्छा मनुष्य तरुण वननपर करे यह इस मन्त्र द्वारा कहा है ।

वैदिक समयमें कई लोग १५० या १७० वर्ष भी जीवित रहते थे और कई ७० या ८० वर्षमें यह शरीर छोड़ते थे । इस तरह औसद आयु राष्ट्रके वीरोंकी १०० वर्षकी होती है । राज्यप्रबंध द्वारा ऐसी सुचारु व्यवस्था होनी चाहिये, कि राष्ट्रके प्रजाजनोंकी औसद आयु १०० वर्षकी बने ।

इस समय भारत वर्षके लोगोंकी औसद आयु २५ वर्षकी है, यूरोप अमेरिकामें यह ६७ वर्षकी है । वैदिक राज्यशासनमें यह औसद आयु १०० वर्षकी थी । राज्यशासनके सुप्रबंधसे राष्ट्रकी औसद आयु बढ़ जाता है ।

बालमृत्यु, अल्प आयुमें मृत्यु तथा अकाल मृत्युका उत्तरदायित्व राज्यशासन-पर सर्वथा है । अकेली व्यक्ति इस विषयमें कुछ कर नहीं सकती । राष्ट्रका आभिय सवर्धन, राष्ट्रका जीवनकम, राष्ट्रमें शान्ति, राष्ट्रमें धर्मका आचार तथा शील जितना होगा, उतनी आयु राष्ट्रकी बढ़ सकती है ।

राष्ट्रका शासन-प्रबंध ऐसा होना चाहिये कि जिससे राष्ट्र पुरुषोंकी आयु बढ़ती जाय और वह औसद १०० वर्ष तक पहुँच जाय । राज्यशासन ठीक है या नहीं यह इससे सिद्ध होसकता है ।

अथ सिद्धान्त—“ कल्याणी धारणा ”

८ एव स्वधि

देव (ज्ञान । हेरे कर्मर (मिल रहे ।)

(८) इस समय तक जो बात सिद्धान्त को हमें को आनेक दिने है वे बातको अन्तर मिल रहे । इस समय तक वा ज्ञान दिना है—(१) जिसमें आत्मव्यवस्था होना बड़ी इस विचार प्रमुख कर लपटा है (२) इस सिद्धिमें संवेद आदरपर आनेक रहती है अतः संवेद लपटी तथा मुख्य है और व्यक्ति नकदी सेवा करनेके सिद्धि है । व्यक्ति मरती है पर तब अन्तर गहल है (३) इसमें व्यक्तिसे व्यक्ति है कि वह अपने मोपीरा समावर्तित करनेके करेस्ते वह करे और वह करने की कर्तव्य रहेक कल्याण स्वर्ण धोम करे, (४) धोम बड़ी करण बन्धिये धोमके वासन लव दीन होते है (५) वन प्रजापतिरा है और वह लव प्रजापतिरा दित करनेके सिद्धि है, वन सिद्धि की व्यक्तिका बड़ी है (६) प्रस वनवर्षी समावर्तित करनेके सिद्धि प्रमुख सिद्धि वैकल्य करनेक करण रहे आत्म्य क्षेत्र देने और (७) वनवर्षी की वर्ण बीजित रहनेकी अद्वैतवाक्य वासन करे और स्वर्ण वन करण रहे । वह लवविन वने इस प्रजापति करे है ।

वह बात प्रधारण वने प्रमुखके अन्तःकरणमें दुस्तर रहे । किसी तरह प्रमुख इन्धन व भूके । इस सिद्धान्त पर अन्तःकरण रहने और वनवा पावन करनेकी परावर्तन करे । इसीसे व्यक्ति की तथा समावर्तित लपटी कल्याण होपी ।

प्रजापतिरा ज्ञान देने दुस्तर व लव वन कि मिलने इस सिद्धान्तके प्रमुख व्यक्ति तथा लव करते वन और वनमें किसी तरहका निज व हो ।

अथ सिद्धान्त अन्तःकरण मार्ग नहीं है । ”

९ नान्यवर्षाऽस्ति ।

(इति आत्म्यया भाषित)

इससे निज अन्तरात्मा वृत्ता मार्ग नहीं है ।

(१) पूर्वोक्त बात सिद्धान्तके ज्ञान निज मन्त्र वनेकी सेवा दुर्त,

उससे विभिन्न दूसरा कोई मार्ग मानवी उन्नतिके लिये नहीं है ऐसा मानना । यहाँ भी मार्ग है और दूसरा भा है, सभी मार्ग वहीं पहुँचते हैं ऐसे गोरुमाल विचार मनमें रखने नहीं चाहिये । इससे भ्रष्टाचार बल प्राप्त नहीं होता और किसी भी मार्गपर विश्वास नहीं बैठता । इसलिये 'यही अष्टविध धर्ममार्ग मानवी उन्नतिके लिये है, हमने भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं ऐसा मानना मानवी समाजके हितके लिये और उससे सघटनके लिये अत्यंत आवश्यक है ।

सब मार्ग वहाँ पहुँचाते हैं ऐसा मानना भी एक भ्रम है । इस भ्रमको दूर करना चाहिये । मानवी उन्नति का यही एक मार्ग है इसमें भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं ऐसा मानना ही याग्य है । यह पुरुषार्थ प्रयत्नका मार्ग है । यहाँ तक नौ सिद्धान्त कह, दसवाँ भी एक है वह अब देखें—

दशम सिद्धान्त = 'सत्कर्मका प्रभाव'

१० न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

'कर्मका लेप नरको नहीं लगता ।'

(१०) कर्मके तीन भेद हमने पूर्व (छठे सिद्धान्तके विवरणमें) बताये हैं । 'विकर्म' हानिकारक होनेसे करने नहीं चाहिये 'अकर्म' व्यक्तिके अस्तित्वके लिये आवश्यक होनेसे करने ही चाहिये । इनमें व्यक्ति समाज-पेक्षा करनेके लिये समर्थ हाती है इसलिये इनको करना आवश्यक है । सर्वजन-हितकारी जो हैं वे ही 'कर्म' कहलाते हैं । ये अवश्य करने चाहिये । कई लोग कहते हैं कि सभी कर्मोंका लेप मनुष्यको लगता है यह सत्य नहीं है । सर्वजनहितकारी कर्म करनेसे नरको कोई दाँव नहीं लगता, इस दशम सिद्धान्तपर भी विश्वास रखना चाहिये ।

सर्वजनहितकारी कर्म मनुष्यको अवश्य करने चाहिये । इनको त्यागना नहीं चाहिये । इनको उत्तमसे उत्तम विधिसे करना चाहिये । इनके करनेसे मनुष्यका दोष नहीं लगता । हानिकारक विरुद्ध कर्म करनेसे मनुष्य दोषी होता है, व्यक्तिगत कर्म करनेसे व्यक्तिका सुधार होता है और सर्वजनहितकारी कर्म करनेसे मनुष्यको दोष नहीं लगता ।

कहाँ कर की शीत नहीं लगना ऐसा कहा है। इससे शीत नहीं लगता ऐसा नहीं कहा। म-र (म मरान) का मोलम नहीं रचना वह कर है। मीशेष को वायव्य नहीं माना, वह दक्षिण पूर्व अक्षांश पर ही कहा है जो कभी-कभी इससे शीत नहीं लगता। कन्दोपते हृदय निम्नस्थ वह वायव्य है।

ब्रह्मविद्या ह्यभिहितं ज्ञानं सर्वत्र हि । ते हि ज्ञानयोगिनि मिथ्याभूते ।
इहैव भवन्ते कर्माभिलेखे जायमानाः । न ज्ञानयोगे मार्गोऽयं न कदा
कदा हि । अत एव सर्वे मार्गोऽयं तन्मया कृतः कथ्यते ॥—

रानी मायोडी दसना

अवधि-मार्ग

१ ईश्वर अपने समर्थकते इस निम्नपर कायम करता है (असम्भवान् करने का-र्थक्ये निम्नपर अधिकार बचाता है ।)

२ इस विषयमें समझिये आचार्य
क्यानि कहती है । समाधि का अर्थ है
सर्व समाप्त करना है । समाधिमें
विलम्ब किए समाधिमें ऐसा करना भी
है । और समाधिमें समाधि में जो
हीना भी है । समाधिमें जो समाधि
होना का अर्थ है ।

३. समष्टि-व्यष्टिगत कदम्बिनात्त नर
येते भिन्ने कालौ चोप करवा नर
कावे जो अवधेय । हेमा बल्य एव
काल करवा ।

पञ्चमसिद्धा मास्यै

१ ईस्वर व १ है। हात्ता तो वह
पाँचवे काष्ठमण्डपमें दियो। वदनि वह
अन्ते प्रतिनिधिपद हात्ता द्युप निवस्य
अन्त पावत्या है।

१. समष्टि की संरचना का है व्यक्ति-
पर स्वार्थीय भाव का भाव। जबकि
व्यक्तिपर स्वार्थीय भाव १. एक-
कक्षीय भाव का भाव। भाव का भाव
भावाभाव का भाव का भाव का भाव।

३. संसर्ग एवा-भोग बहारी इत्य-
मोक्षोपर मर्त्याय च ज्ञानाः भोगवि-
कल्पोऽपि अस्माकं इति करणा ।

४ लोभका त्याग करना ।

५ धन समष्टिका है, प्रजापालक सस्याका धन है, प्रजा पालनके लिये धन है, व्यक्तिका धन नहीं है ऐसा मानना । व्यक्ति विश्वस्त रूपसे धन अपने पास रखे, पर उसका उपयोग समष्टिके हितके लिये करे ।

६ इस जन्ममें श्रेष्ठतम कर्म करना । ये कर्म सर्वजनहितके लिये करते रहना ।

७ सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करना, इस दीर्घायुमें शुभ कर्म करते रहना ।

८ पूर्वोक्त विचार मनमें स्थिर रखना ।

९ इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है ऐसा मानना ।

१० श्रेष्ठ कर्मका लेप नहीं लगता ऐसा मानना ।

वहाँ दो तालिकाएँ दी हैं । एकमें मानवी उन्नतिके दस सिद्धान्त दिये हैं, और उसके सामने दूसरे कोष्टकमें मानवकी अधोगति करनेवाले दस मत दिये हैं । मानवी उन्नतिके इन दस सिद्धान्तोंसे मनुष्य समाजकी सच्ची उन्नति होनेके लिये, इन सिद्धान्तोंको व्यवहारमें लानेके लिये सदा कटिबद्ध रहनेवाली आध्यात्मिक राज्यशासन प्रणालीही राष्ट्रके शासन कार्यमें प्रयुक्त होनी चाहिये । अध्यात्मके सिद्धान्तोंपर जिसकी रचना हुई है ऐसा राज्यशासन प्रणाली ही संपूर्ण राष्ट्रका तथा संपूर्ण मानवसमाजका उद्धार कर सकेगी । इसका स्वरूप संक्षेपसे अग्रे देत हैं—

४ लोभको बढ़ाते जाना ।

५ व्याक्तका धन है, व्यक्ति अपने पास धन—मंप्रह कासा रहे । धनकी पूजा अपने पास बढ़ाते जाना और समष्टिके हित के लिये धनका दान न करना ।

६ स्वार्थभोग बढ़ानेके लिये कर्म करना ।

७ संसारको क्षणमंगुर मानकर कर्मका त्याग करना ।

८ किसी विचारपर मन स्थिर न रखना ।

९ सब मार्ग प्राप्तव्य स्थानपर पहुँचाते हैं ऐसा भ्रान्त विचार मनमें रखना ।

१० सब कर्म बधनकारक हैं ऐसा मानना और कर्म छोड़ना ।

अध्यात्माभिहित राज्यशासनके तत्त्व (वैयक्तिक तथा सामाजिक)

(१) समर्थ मनुष्य बनना समर्थ समाज इस निश्चय अपना प्रमाण स्थापन कर सकता है। वह नानातर व्यक्तिमें समर्थको वांछितो बनना चाहूँगे प्रभावशाली बनना हो तो उसे निश्चये वाच्य अनिष्ट रहकर अपना संबंध बनाना चाहिये। कदाचित् एक व्यक्ति विशेष प्रमाणी बन भी सकता है और वहका प्रमाण निश्चय पर भी सकता है, पर यदि समाज वांछित वा राष्ट्रमें प्रभावशाली बनना हो तो वह अपने राज्यशासन-मनस्वाधि ही हो सकता है। ऐसा सुसंयोजित समर्थान् समाज निश्चय अपना प्रमाण क्या सकता है।

(२) व्यक्ति तथा समाजका परस्पर सहकार्यसे निश्चय हीना चाहिये। व्यक्ति अपना जीवन समाजके हित करनेके लिये देने और समाज व्यक्तिमें सुसंयोजित रहे। वह राज्यशासन-मनस्वाधि ही होनीचाना अपने है। व्यक्ति स्वार्थी बनकर अपना निश्चय कर लेनी समाज भी अपने स्वार्थके लिये संयोजित होकर बनना एक बड़ा कष्ट होगा। पर व्यक्ति और समाजका सम निश्चय करना ही तो वह अपने समीप राज्यशासनके प्रबंधसे ही हो सकता है।

(३-४) स्वायत्त श्रेष्ठता और शोभन तत्त्व से तत्त्व वैयक्तिक आचारमें लगे जा सकते हैं। पर यदि वे राज्यशासनके राष्ट्रीय नियोजनके द्वारा मनस्वाधिमें लगे लगे तो वे राष्ट्रके निश्चयके लिये व्यक्ति लक्ष्यक हो सकते हैं।

(५) जब समाज एक प्रभावशाली है, किसी एक व्यक्तिका वरपर अनिष्ट नहीं है। प्रजापति वा अपने प्रभाव पक्ष करनेवाली संस्था है। इसकी नाम राज्यशासन करनेवाली संस्था है। इसको का भी कहते हैं। का का अपने लक्ष्य है। वह राज्यशासन बनानेके लक्ष्य है। इसलिये इसको प्रजापति कहते हैं। राष्ट्रका एक जब इस प्रजापति संस्था है। इस बनने लगे अधिकारमें मात्र वरने लगे वरणीयसे एक वरणीय जोनसे लक्ष्य समर्थ बनना लगे वरति हीनेके मार्ग लगे लगे लगे

रखना और किसीकी उन्नतिमें रुकावट न होने देना यह राज्यव्यवस्थाके प्रबंधसे ही होनेवाला कार्य है । कोई एक व्यक्ति यह नहीं कर सकती ।

(६-७) मनुष्य श्रेष्ठ कर्म करें और १०० वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करें । राष्ट्रकी आयुष्य वृद्धि करनेका कार्य तो राज्यशासन प्रबंधसे ही हो सकता है । राष्ट्रके आरोग्यकी वृद्धि करना, राष्ट्रमेंसे रोगोंको हटाना, जनताकी कार्यक्षमता बढ़ाना, उनके द्वारा श्रेष्ठतम कार्य होनेकी व्यवस्था करना, जनतामें धैर्य और बड़े कार्य करनेका सामर्थ्य विकसित करना यह सब राष्ट्रशासनके सुप्रबंधसे ही हो सकता है । राज्यशासनके सुप्रबंधसे राष्ट्रकी जनताकी आयु १०० वर्षोंकी हो सकती है । एक एक व्यक्ति कितने भी नियमोंका पालन करती रहेगी तो भी वह राष्ट्र शासनके सुप्रबंधके समान कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकती । केवल किसीकी कम्पनासे ही मनुष्य १०० वर्ष जीवित नहीं रह सकता और कोई व्यक्तिको वैसी आयु प्राप्त हुई तो भी उसमें कुछ विशेष लाभ नहीं । यहाँ तो राष्ट्रकी औसत आयु १०० वर्षकी होनी चाहिये । यह कार्य राष्ट्रके प्रबंधसे ही हो सकता है ।

(८-१०) ये पूर्वोक्त तत्त्व विचार ध्यानमें धारण करने और इससे भिन्न दूसरे कोई विचार मानवोंकी उन्नति करनेवाले नहीं है ऐसा मानना चाहिये । यह ऐसी श्रद्धा बनी रहनी चाहिये । इसी तरह सबजनाद्देतकारी श्रेष्ठ कर्म मनुष्यको दोष नहीं लगाते यह भी जानना चाहिये । यह तो व्यक्ति भी कर सकती है, पर राष्ट्रकी जनतामें ऐसा विचारोंका परिवर्तन करना हो तो वह काय राष्ट्रकी शिक्षा में ही ओ जस्वी विचारोंका समावेश करनेसे ही हो सकता है । अर्थात् यह राज्यशासनके सुप्रबंधसे हो सकता है ।

यहातरु बताया गया कि पूर्वोक्त दश तत्त्वोंका वैयक्तिक रीतिसे कितना पालन हो सकता है और राष्ट्रीय शासन द्वारा कितना कार्य हो सकता है । व्याक्तसे होनेवाला कार्य अल्प और राज्यशासन द्वारा होनेवाला महान और स्थायी है ।

[illegible]

आधुनिक समयमें प पू म्हात्मा गोपीबंसे सदा कार्यरत रहते थे, जहाँ तक आर्थिक स्थिति का संबंध है। वे राज्यशासन के इन्तजाम समायोजन तथा चालूते के पर नजर बना रहें। अतिशय ही समयों की व्यवस्था के लिये राज्यशासनमें इन्तजाम वही प्रमुख भूमिका का होता है। (देखो अनेक पुराण) ऐसी ही व्यवस्था अंगवत् भीष्मपुत्रों के लिये का ऐसा प्रतीत होता है। इसका नाम “मागधत राज्यशासन” है। अन्तर्गत अपने कार्य करने और राज्यशासन के इन व्यवस्था बोनक्षेप चलाया वह (योगक्षेमं पश्यामि माह) इनके अन्तर्गत ही रहता है। पर वह अपने एक न सदा और इसके क्षेत्र में विस्तार न हो सदा वह रहता है।

ईश्वरके जो गुण वैयर्थ्यमें होते हैं वे राष्ट्रधर्ममें हीचने जादिये क्योंकि राष्ट्रधर्मक भी ईश्वरक जंस ही है। और मनुष्यमें जो जल्प जंसते हीचने जादिये क्योंकि वरका धारमक कर्मवत्ता है वरमें तथा धारममें गुनीध धाम्न है। राष्ट्रधर्ममें तो यह धाम्न विशेष ही रहता जादिये कजाकि वरका जवताके मरिम्यके धाम्न वरिम्य लक्ष्य है वरमेंधर धिम गुनीधे निधध धाधध कर रहा है वन पुवावे ही राष्ट्रधर्म राष्ट्रधर्म जन्मी प्रजाध धाधध करे यह जन्माधधधिमिधिम धाम्नधाम्नका भूत है। हज्जे ईश्वरके वरमके धाम्न और वरम धाम्नधाम्नधध धी वरम करते हैं यह स्पष्ट है। जाता है।

इस इंशोपनिषद्में (इंश) शासक, (यम) नियामक, सरक्षक, (प्राजापत्य) प्रजापालक, प्रजापति ये शब्द जैसे ईश्वरके वैसे ही राज्यशासकके भी प्राचक हैं । ईश्वरके गुण इसी कारण राज्यशासकके गुण करके विचार करने योग्य हैं । इस तरह अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्त बहुत अंशसे राज्यशासनमें कैसे परिवर्तित हो सकते हैं, इसका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है ।

अब ऊपर जो दशविध उन्नतिका मार्ग फल, उससे न जानेवाले आत्मघातकी लोगोंकी कैसी दुर्दशा होती है यह देखिये । यह अध्वनतिका दशविध आत्मघातका मार्ग पूर्व स्थानमें थोड़ाकमें दिया है —

ग्यारहवा सिद्धान्त = “आत्मघातकी लोगोंकी अधोगति”

११ असुर्या नाम ते लोका

अन्धेन तमसाऽऽवृता ।

तांस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति

ये के चात्महनो जना ॥ ३ ॥

‘जो कोई आत्मघातकी लोग होते हैं वे अन्धकारसे व्याप्त आसुरी प्रवृत्तिके लोगोंमें मरनेके बाद भी जाते हैं अर्थात् वे उनमें जन्म लेते हैं ।’

(११) आत्मघातके मार्गसे जानेवाले लोग आसुरी सपत्तिके गुण्डलोगोंमें गिने जाते हैं । ईश्वरी योजनासे मरनेके बाद भी वे आसुरी गुण्डलोगोंमें जन्म लेते हैं ।

राज्य शासनके प्रयत्नसे ऐसे दुष्ट लोगोंकी गणना गुण्डोंमें होने योग्य है । इस तरह इनकी गणना गुण्डोंमें होनेसे संपूर्ण जनताको पता लगेगा कि ये गुण्ड हैं और इनसे सावधान रहना चाहिये । गुण्डोंमें इनकी गणना होनेसे अन्य सभ्योंको नागरिकत्वके जो अधिकार होते हैं, वे इनको नहीं रहेंगे, इससे इनको अपना सुधार करनेका उत्साह उत्पन्न होगा और वे अपना सुधार करके नागरिकत्व के सब अधिकार प्राप्त कर सकेंगे ।

विद्युत् लवण ईश्वरी निष्कामसे आसुरी लोभमें बन्ने जीव भी अपना पुकार करके ईश्वरी संघर्षिताके पुण्य कर्मोंमें लग्न करने योग्य होते हैं, जहाँ लवण राज्य प्रबंधमें भी समझना योग्य है। ईश्वरी निष्कामपुकार जन्मान्तरमें विद्वत्प्राप्ति और कल्याण होती है और राज्य प्रबंधमें इसी जन्ममें निराकाश या पुकार होता है। राज्य व्यवस्थामें पुकार करनेवालोंकी योग्य व्यवहार निष्काम ही चाहिये किन्ति जन्ममें पुकार करनेवाले जन्ममय मित्र और वे पुकारें। इस विद्युत् योग्य निष्काम राज्यव्यवस्था प्रबंध करनेवाले करें और लवणपुकार राज्यव्यवस्था करें।

यहाँ बाल्यकालीन कुम्भीयों की जनजाति कैसी होती है वह बाल्यका इष्टतम जनजाति की संस्कृतियों की जनजाति पूर्वोक्त वर्गमानों की होती है इसका अर्थ होता है ।

द्वितीय प्रकरण

पूर्व प्रकरणों में हमें प्रायः राज्यशासन की समीक्षा बतानी पड़ी थी। निम्नलिखित प्रश्नों पर ध्यान दें —

पुनः ईशगुणोंका वर्णन

प्राप्त है विद्युत् = न-कम्पनशीलत्व

१२ अनेषत्

(क) प्रत्येक व्यक्ति को है।

(१२) ईश ईश्वर ब्रह्म, प्रजापति वयं ब्रह्म, पञ्चम आत्मा परमात्मा
ये सब कल्प एक आदि पारम्ये वाचक हैं। इसीप्रकार सर्वत्र ब्रह्मके संग्रहमें ईश
कल्पद्रव्य हुआ है। यह ईश्वर सबके अधिक परमार्थवाचक है इसलिये सब
पर ब्रह्मत्व करता है। सबके कोई अधिक परमार्थवाचक नहीं है अतः यह सिद्धीके
सबसे अधिक हीन और निम्नोपरि ईश्वर संग्रह भी नहीं। अतः तो सब
हीन सब सबके कोई अधिक परमार्थवाचक नहीं है अतः यह सिद्धीके
सबसे अधिक हीन भी न कहे। ईश तो नहीं नहीं है इसलिये यह सिद्धीके
सबसे अधिक हीन संग्रह नहीं।

जो सर्वत्र नहीं होगा वह हिल सकता है । जो सब जगह होगा वह नहीं कांप सकता । जो हिल नहीं सकता वह कांपेगा कैसे ?

इस मन्त्रमें तथा इसके आगेके मन्त्रमें ईशवाचक शब्द नपुसक लिंगमें हैं । प्रथम मन्त्रका 'ईश' पद पुल्लिङ्गी है । इस सूक्तमें एक ही आदि तत्त्वका वर्णन करने वाले पद पुल्लिङ्ग और नपुसक लिंगमें हैं । इससे सिद्ध होता है कि अनेक लिंगोंके पदोंसे इस आदि तत्त्वका वर्णन होता है । अतः इस लिंग भेदको देख कर घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

राज्यके अधिकारी तथा शासन यत्र ऐसा प्रचल हो कि जो शत्रुको देखकर न कांप उठे । अन्दरके गुणोंसे भी न डरे । सब राज्यके होने कोनेमें उसका शासन अच्छी तरह चलता रहे और किसी तरह किसी जगह निर्बल न हो, सर्वत्र प्रचल रहे । किसीसे न डरे, किसीके सामने न कांप उठे किसीके सामने न झुके और सबसे अधिक प्रभावशाली रहे । शासक अधिकारी किसीके दूरसे अपने कर्तव्यमें कसूर न करें । किसीसे न डरते हुए अपना कर्तव्य निर्भयतासे करते रहें ।

तेरहवां सिद्धान्त = "अद्वितीयत्व"

१३ एकम्

' (वह) एक है, वह अद्वितीय है । '

(१३) वह ब्रह्म एक है, अद्वितीय है, उसके समान दूसरा नहीं है । उसके सामर्थ्यके समान सामर्थ्य किसी दूसरेके पास नहीं है । वह अप्रतिम है ।

राज्यशासनमें भी जो शासक होगा वह अद्वितीय होना चाहिये । उसके समान दूसरा कोई नहीं, ऐसा वह अप्रतिम होना चाहिये (शासनाध्यक्ष) मंत्री, अधिकारी, सेनापति आदि स्थानोंके लिये जिनकी नियुक्ति होनी हो वे अधिकारी उन उन स्थानोंके लिये अद्वितीय होने चाहिये । उस समय उस राष्ट्रमें उनके समान उस स्थानके लिये योग्य दूसरा कोई नहीं, ऐसे पुरुषोंकी नियुक्ति उन उन स्थानोंके लिये होनी चाहिये । प्रत्येक अधिकारके स्थानके लिये यही नियम होना चाहिये तभी सब स्थानोंके लिये शुण कर्म स्वभावसे सुयोग्य अधिकारी मिलेंगे

व्यवहार निम्नप्रतिबन्ध उत्तम रीतिसे चलते रहे, पर कभी ऐसा न हो कि शासक केन्द्रपर भी कोई आप्रमण कर सके । गुणोंका आक्रमण, रिश्वतमोही, भोति चताकर गुणोंका दबाव और सर्वस्वापहार, अथवा शासन केन्द्रका मण्डे परिवर्तन न हो सके । शासन केन्द्र सदा जाग्रत प्रभावी तथा कार्यक्षम रहे । गुणोंका आक्रमण होनेके पूर्व ही वडा सुरक्षाका प्रयत्न उत्तमसे उत्तम रहे ।

सोलहवा सिद्धान्त = "प्राचीन परंपरापर आश्रित "

१६ पूर्वम्

' (वह ब्रह्म सबसे) पूर्व है, सबके पूर्व विद्यमान है । '

(१६) 'पूर्व'का अर्थ 'प्राचीन' पूर्व समयसे उपस्थित, शाश्वत, सदा रहनेवाला और पूर्ण । ' ब्रह्म सबसे प्राचीन है, पूर्व समयसे है, सर्वत्र उपस्थित है, शाश्वत है, सदा रहनेवाला है और परिपूर्ण है ।

राज्यशासन भी सबसे परिपूर्ण, प्रथमसे उत्तम, पूर्व समयसे एक जैसा चला आया, शाश्वत टिकनेवाला, बारबार न बदलनेवाला, चञ्चलतासे रहित हो । सतत समान रूपसे चलनेवाला हो । किसी एककी इच्छासे बदलबदल उसमें न हो । समान रूपसे शासन चलता रहे । प्राचीन परंपरा प्राचीन सभ्यतापर आश्रित हो ।

सतरहवाँ सिद्धान्त = स्फूर्तियुक्त 'ज्ञान दान'

१७ अश्वत्

(वह ब्रह्म) गतिमान और ज्ञानपूर्ण है ।

(१७) 'अश्वत् वा अर्पत् ' का अर्थ 'गतिमान, चालक, प्रेरक, स्फूर्ति देनेवाला, ज्ञानवान् ' है । ब्रह्म संपूर्ण विश्वको प्रेरणा, स्फूर्ति और चालना देता है, सबकी प्रगति करता है । सबको ज्ञान देता है उन्नति करनेके लिये वही प्रेरणा देता है उत्साह उत्पन्न करता है ।

राज्यशासन भी ऐसा होना चाहिये कि जिससे जनताके सब शुभ व्यवहारोंको उत्तेजना मिले, स्फूर्ति मिले, संचालना होती रहे, प्रेरणा मिलती रहे और

किसी तरह निस्तब्ध न हो । अपने ज्ञानका प्रसार हो और सब छुप झमेझों को काटता रहे । उसमें असाहस्य वातुमन्त्रक रहे और निराशाका नाम भी न रहे ।

अठारहवें अध्याय = “अध्यात्मिका अनात्मिका”

१८ तद् भावतोऽन्यान्त्येति ।

‘तद् (तत्) अन्य दौर्गन्धेयान् अज्ञान करके बनते परे पहुँचता है ।

(१८) अन्य पदार्थ मिलने की दौर्गन्धेयके रूप, जो भी उनके प्रथम रूपसे परे तत्त्व अधिक गतिमान होनेसे पहुँचा रहता है । कोई दूसरा पदार्थ उसका वर्तन नहीं कर सकता । ‘अन्य’ का अर्थ ‘दूसरा परकीय परदेशीय, विदेशीय’ कतु हुआ भी सदा दूसरा ही रहता है ।

एकज्जातल व्यवस्था ऐसी उत्तम और परिपूर्ण होनी चाहिये कि कोई (अन्य) कतु हुआ अथवा परकीय अथवा अज्ञानि वर्तन न कर सके । जो उसमें ‘अन्य, दूसरे परकीय विदेशीय, विदेशीय’ के रूपमें रहते हैं, जाते हैं कठिन रचना करना चाहते हैं, उनके दौर्गन्धेय मिलनी पति ही अपने एकज्जातल पति अधिक ही अज्ञान वहाँ के पहुँचनेका रूप करें वहाँ एकज्जातल पति के ही पहुँचें ही । वहाँ के जीव वहाँ के पति के ही अतिविशेष हैं मिलना परकीयका वैय ही कतु अज्ञानका वैय अधिक हो मिलने के साधन अधिक अतिप्रयत्न न कर सके । तत्त्व वर्तन साधन करें पर वे अन्य-परकीय जीव-साधनका वर्तन न कर सके । एकज्जातलीला साधन परकीय आत्म-पति अधिक प्रभावी हो ।

उसमें कोई (अन्य) परकीय करते न रहे । जो रहे वे उसके रूप होकर रहे । और जो परकीय करते रहना चाहे उनकी पति साधनका वर्तन करने योग्य नहीं और अधिक प्रभावी विज्ञान न हो । सदा साधनके अतीत होकर वे परकीय हैं साधनके विरार बाहर न बैठें ।

उपनिषदों सिद्धान्त = " सुप्रतिष्ठित स्यैर्यं "

१९ तिष्ठत्

' (वह ब्रह्म) स्थिर है , चञ्चल नहीं है । '

(१९) ब्रह्म सर्वोपरिपूर्ण है इसलिये हिल नहीं सकता, अतएव वह सुस्थिर है । इस स्थिर ब्रह्मका आधार सपूर्ण विश्वको है । इसके आधारसे विश्व रचा है । ब्रह्म स्वयं स्यैर्यसे सुप्रतिष्ठित है ।

राज्यशासन भी स्थिररूपसे सबको आधार देनेवाला होना चाहिये । आज एक, कल दूसरा, परसू तीसरा ऐसी चञ्चलता उसमें नहीं होनी चाहिये । राज्य शासक एक स्थिर नीतिसे चलनेवाले होने चाहिये । राज्यशासनकी स्थिर नीति रहेगी, तो जनताके विश्वासके लिये वह पात्र होगा । राज्यशासन चञ्चलत्वादि दोषोंसे विरहित और स्यैर्यमे सुप्रतिष्ठित होना चाहिये ।

पौषवां सिद्धान्त = " कर्मोंकी धारणा "

२० तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

' उस (ब्रह्म) में वायु जलौका धारण करता है । '

(२०) ' आप ' का अर्थ ' जल तथा कर्म ' है, ' मातरिश्वा ' का अर्थ वायु, प्राण और गर्भस्थ जीव (मातरि-श्वा) है । आकाशमें वायु मेघरूपी जलौका धारण करता है, गर्भस्थ जीव पूर्वजन्मके कर्मोंका धारण करता है यह सब उस ब्रह्मके आधर्यसे ही हो रहा है । ब्रह्मके आधारसे जो शक्ति वायुमें रहती है, उससे वायु जलौका धारण करनेमें समर्थ होता है । इसी तरह इसी शक्तिके नियोजनसे गर्भस्थ जीवके पूर्वजन्मकृत कर्म उसके साथ रहकर द्वितीय जन्ममें उसे मिलते हैं तथा उसके फलभी उसे मिलते हैं । कर्म विनिष्ट नहीं होते ।

इसी तरह राज्यशासनमें भी सब जनताके कर्मोंकी यथायोग्य धारणा होनी चाहिये और उनके फल उन कर्मोंके कर्ताको मिलने चाहिये । कुशल कर्ताको योग्य कर्म, योग्य कर्म योग्यरीतिसे करनेपर उसके सुयोग्य फल उसे मिलने चाहिये ।

कर्ताको कर्म, कर्म करनेकर सुखोन्मत्त बन कर्ताको निष्काम चाहिये । ऐसा न हो कि कर्मकारी कर्म तो करे, पर कष्टका फल सुखका ही का ज्ञान और कर्ता केचित ही रहे । कर्ताका कर्म बनेबनासिध होना रहे, कर्म होनेपर कही समय बनना सम-वास्तवसे भी नयी न ही । यह कर्ताको कष्टके कर्मके अनुरूप फल बनान निष्काम चाहिये । कर्मकर्ताको कर्मफल प्राप्तिमें निश्चिति होनी चाहिये । किन्ता कर्म कभी स्वर्ग प्राप्त नही चाहिये ।

एकव्योक्तौ सिद्धान्त = स्थिर रहकर वृत्तियोंका संवाकन

११ तदेवमिति, तस्मैवमिति ।

यह (महा कर्मको) कहा जाता है (पर) यह (महा) स्वयं नहीं दिखता ।

(११) यह महा एक निष्काम संवाकन कर रहा है । पर यह स्वयं नहीं विचक्षित होता । स्वयं सुस्थिर रहनेकाम एक निष्काम संवाकित करता है ।

इसी तरह राज्याध्यात्म भी राज्याध्यात्म का कार्यकर्ताओंको बोध देता रहे पर स्वयं अपनी पद्धतिपर सुस्थिर रह । राज्याध्यात्म न रहे, पर जब राज्याध्यात्म स्फूर्ति देता रहे जब राज्याध्यात्म करताइ करने । इसी तरह (एव स्वयं) यह कर्मको कर्मावधान करे पर स्वयं न केचित होने, कर्मको कराने और भवा देने पर स्वयं अपने स्वयंसे न दिखे ।

एवमिति का अर्थ केचित होता है अपेक्षा है, कर्माध्यात्म है । ऐसा है । कर्मको कर्मसे पर स्वयं न करे ।

वैयर्थ्यो सिद्धान्त = " दूर और पास समान

२२ तद् दूरं तद् अन्तिके,

तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य वास्तवः ॥ ५ ॥

यह (महा) दूर है और यह कर्माध्यात्म भी है । यह दूर कर्मके अन्तर है और यह दूर कर्मके वास्तव भी है ।

(२२) यह महा वैयर्थ्य दूर है वैयर्थ्य ही सर्वस्य भी है दूर और कर्माध्यात्म दूर वैयर्थ्य है । यह अन्तर और वास्तव एक वैयर्थ्य है ।

राज्यशासन भी जैसा एक स्थानपर वैसा ही दूसरे स्थानपर रहे । केंद्रमें जैसा हो वैसा ही सुदूरके प्रदेशमें भी हो । अधिकारीके पास न्याय मिले और अधिकारी दूर होनेपर अन्धकार हो ऐसा कभी न हो । कोनेसे दूसरे कोनेतक एक जैसा राज्य शासनका प्रबन्ध हो । मध्य केंद्रमें जैसा सुप्रबन्ध हो वैसा ही बाह्य प्रदेशमें भी उत्तम प्रबन्ध रहे अन्दर और बाहर समान रूपसे उत्तम प्रबन्ध हो । सर्वत्र समानतया जागरूक तथा अनुशासन युक्त अच्छा प्रबन्ध रहे ।

तेईसवों सिद्धान्त = “ परस्परावलचित्व ”

२३ यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वंभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सति ॥ ६ ॥

‘ जो सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह इस ज्ञानके कारण किसीकी निंदा नहीं करता । ’

(२३) ब्रह्म या आत्मामें सब भूत हैं और सब भूतोंमें ब्रह्म या आत्मा है । ऐसा जो देखता है वह भूतोंको और आत्माको सर्वत्र देखनेके कारण, जहां जिसको वह देखता है वहां उसमें आत्मा और भूत दिखाई देते हैं; इस कारण, प्रत्येक स्थानमें भूतों और आत्माका उसको दर्शन होनेके कारण, वह किसीकी भी निंदा नहीं करता, क्योंकि अनिन्दनीय आत्मा सर्वत्र है और कोई पदार्थ उससे रहित नहीं है ऐसा देखनेके कारण वह किसी पदार्थ की निंदा नहीं कर सकता ।

राज्यशासनमें भी सब प्रजाजनोंमें राज्यशासनकी प्रतिष्ठा है, कोई मनुष्य अपने राज्यशासन की अप्रतिष्ठा नहीं करता और राज्य शासन भी किसी व्यक्ति को रंग, रूप, जाति, प्रान्त, वर्ण, देशभेदके कारण दूर नहीं रखता, अर्थात् राज्य प्रबन्ध सबको समान रूपसे आदरणीय मानता है और सब लोग वे किसी दर्जामें हों, पर वे सबके सब राज्यशासनका अनुशासन मान्य करते हैं, आदर से शासनप्रबन्धको देखते हैं, वहां कौन किसकी निंदा करे और क्यों निंदा करे? राज्यशासन और जनतामें सामंजस्य होनेपर निंदा करनेका कारण ही नहीं रहता ।

जिस समय राज्य व्यवस्था और प्रशासनिक दृष्टि से सब परस्पर विरुद्ध हो जाता है और हममें सेबने उत्पन्न होता है। जब प्रशासक राज्यवाचक पक्षों में विवाद करता है। अन्त्या उदासीन पक्ष जिसमें दोष देखता है उसको विवाद करता है पर अन्त्यक प्रजा और वास्तव तंत्र इस दोषोंमें सम्यक्त्व हो और वे दोनों परस्परके पोषक सहायक तथा हितवितक हों सब विवाद करनेका कारण ही नहीं उत्पन्न होता।

अन्त्या और वास्तव सत्ता के दोनों अन्त्यक संभव हैं। परस्पर सहानुभूति हो और परस्पर सहकार्य करनेवाले हों तो ही राज्य कुछ होनेकी संभावना है।

नीचीछोटी सिद्धान्त = " एकतात्म प्रत्यय

१४ पस्मिन् सर्वाणि भूतानि अहमैवाभूद्विशिष्टता।

तत्र को मोहः का शोकः एकत्वमनु पश्यथतः ॥ ७ ॥

जिस अवस्थामें सब मृत जानीये जिसे आत्मा (ईश) ही हुए उस अवस्थामें सब एकत्वको अनुभवते देखनेवालेको शोक भी कैसे होगा और मोह भी कैसे होसकेगा ?

(१४) यह सब सिद्ध अहमता ही निरूपण है। ऐसा जिसको इच्छाका दर्शन हुआ उसे किसी भी कारण शोक या मोह नहीं हो सकते। क्योंकि जिसको यह देखता है उसमें वह अहमता ही दर्शन करता है। विभिन्न पक्षोंमें एक अहमता दर्शन यह करता है। इस तरह जिसे इच्छावाचक अनुभव हुआ उसको किसी भी अवस्थामें मोह या शोक नहीं होते। मोह तो सब होगा जिस समय अहमता और अनाहमता विचार करना पड़े शोक भी सब हो कि जिस समय अहमता दर्शन न हो। जब ऐसा नहीं होता और उसी चरित्रा सर्वत्र अहमता ही दर्शन होता रहेगा उस शोक भी नहीं होगा और मोह भी नहीं होगा।

राजवशासनमें भी जब प्रजा और राजवशासनमें विरोधाभास न होगा प्रजामें संपूर्ण राजवशासन सुरिभर है ऐसा अनुभव होगा और राजवशासनको प्रजा सुरक्षित है ऐसा अनुभव होगा उस प्रजा और वास्तवतंत्रमें कार्य

भिन्नता नहीं रहेगी, इसी अवस्थामें जो एकात्मताका दर्शन होगा उस समय किसीको शोक या मोह नहीं होंगे ।

जब राज्यशासन प्रजाके द्वारा, प्रजाके हितके लिये, प्रजाके प्रतिनिधियोंके द्वारा चलाया जायगा, तब यह राज्यतन्त्र प्रजामें ही सुरक्षित रहेगा, उस समय प्रजा और राज्ययन्त्र एक ही होगा । यही राजकीय एकात्मताकी प्रतीति है । जहां पूर्णरूपमें एकात्मता होगी, अर्थात् जहां राज्ययन्त्र और प्रजा एक रूपमें रहेगी वहां किसीको भी मोह नहीं होगा और शोक भी नहीं होगा ।

जब प्रजा और राज्ययन्त्रमें संघर्ष होगा, विद्वेष होगा, परस्पर हारने भित्त-नेकी स्पर्धा होगी तब किसीको अपने कर्तव्य अर्ककर्तव्यके विषयमें मोह होगा और अपटुत्य होनेके कारण शोक करनेका भी प्रसंग होगा । पर जहां प्रजा और राज्ययन्त्र एकरूप होंगे, प्रजा ही राज्यशासन निर्माण करनेवाली होगी और राज्यशासकों द्वारा जो होगा वह प्रजाने ही किया ऐसा होगा जब ऐसी एकात्मताकी अवस्थामें उस राज्यशासनमें किसीको भी मोह या शोक कभी नहीं होंगे ।

तृतीय प्रकरण

पुन आत्माके गुणोंका वर्णन करते हैं—

पञ्चीसवौं सिद्धान्त = “ शारीरिक दोषोंसे विघ्न न हों ”

२५ स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्

‘वह आत्मा बलपूर्वक शरीर-व्रण-स्नायु रहित रहता हुआ सर्वत्र व्यापता है ।’

(२५) आत्मा (शुक्र) घल्युक्त होकर तथा देह-व्रण-स्नायुके सबधसे विरहित होकर सर्वत्र व्यापता है, सर्वत्र फैला है, सबको घेरता है, सबपर शासन करता है, सबपर अपना अधिकार चलाता है ।

राज्यशासन चलानेवाला राजपुरुष भी बलिष्ठ वा सार्थवान् होकर अपना राज्यशासनक^१ कर्तव्य करे, तथा शरीरके तथा स्नायुओंके व्रणदि दोषों

और ऐंमिडे कारण अपने कर्तव्य करनेमें निष्पन्न होते हैं । राज्यके अधिकारी राजपुत्र की तरह सुदृढ़ स्नातुमें निर्दोष तथा अपाहि कोचोंसे विरहित रहे अपने कीर्ति स्तम्भ उद्यम रहे और कीर्तिशेखरोंके समान कोई अपाहि अपने कर्तव्यमें किसी अपमर्ष अथवा हठधर्म न हो । किसी भी कारीरिक स्वार्थके कारण राज्यशासनमें कर्म बंद न रहे । जब अधिकारी अपना कर्तव्य करनेमें क्या कर्म रहे । राज्यशासनमें प्रत्येक ऐसे सामर्थ्य सेवक अधिकारियोंके द्वारा कर्म राष्ट्रमार्थमें व्यापक हो सत्वर कायन समस्तस्वसे चकमे और सब पर कसबा कथित प्रमाण प्रस्थापित होना रहे ।

कर्मवर्ती विद्वान्त = 'पवित्रता रहे ।

२६ सुद्ध अपापविद्वम्

यह सुद्ध और निष्ठाप रीतिसे (धर्मत्र म्पाकृत है) ।

(२६) अपाप सुद्ध तथा निष्ठाप कसे कर्म निष्ठापमें व्यापक है । यह निष्ठाप कसे कर्म अपापविद्वान्त कथित नहीं होता ।

राज्यशासन तथा राज्यकायन करनेवाके राजपुत्र भी किसी तरह पापके तथा अकृत स्वधारासे अपना धर्म न रहे । वे परिशुद्ध स्वधारा करें और पापके कर्म दूर रहे । राज्यशासन विद्वान्त की, प्रज्ञाचार, नीचाचार, स्त्रीमचार, दुराचार आदिमें क्या दूर रहे और राज्यशासन परिशुद्ध रहे । अपाहि किसी तरहका कर्म न राज्यशासन अपाप राजपुत्रों पर न आवे ऐसा स्वधारा दक्षतापूर्वक रख पापके किसी उद्यम कर्मि प्रप्त होने की मया से कर्म स्वधारासे दूर दूर रहना अपाहि पर पाप मर्त्यसे कर्म कर्मका बहुत दूर रहे । राज्यका म विद्वान्त पवित्र सुद्ध और निष्ठाप रहे कर्म की कसबा समर्थी आचर दही मार मार निष्ठापक कर्मिण्ड हुआ तो कर्मके कीर्तानि कीर्त विद्वान्त होनेमें बरेद ही नहीं है । अतः राज्यशासनमें सुद्धता पवित्रता निर्दोषता और निष्ठापता रखनेका कर्म क्या ही करना कथित है ।

सताईसवों सिद्धान्त = "ज्ञानी और कर्तृत्ववान् राजपुरुष "

२७ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ।

‘ (ईश्वर) ज्ञानी, सयमी, विजयी और स्वयंभू है । ’

(२७) ईश्वर कवि, ज्ञानी, दूरदर्शी, अतीन्द्रियार्थदर्शी, दूरदर्शी, मनके ऊपर प्रभुत्व करनेवाला, मनका स्वामी, सयपर अपना प्रभाव डालनेवाला, विजयी शत्रुको पराभूत करनेवाला और स्वयं सिद्ध, अपनी शक्तिसे रहनेवाला दूसरोंपर अवलम्बन न करनेवाला, प्रत्युत दूसरोंको अपना आधार देनेवाला है ।

राज्यशासक, राज्यशासनके अधिकारी, राजपुरुष भी (कवि) ज्ञानी, दूरदर्शी, अतीन्द्रियदर्शी, (मनीषी) मननशील, मनपर सयम करनेवाले, मन सयमी, इन्द्रियदमन करनेवाले, मनको अपने अधीन करनेवाले, (परिभू) अपने शत्रुका पराभव करनेवाले, विजयी, प्रभावी, सयपर अपना प्रभुत्व रखनेवाले, चारों ओर अपने प्रभावका फैलाव करनेवाले, (स्वयंभूः) स्वयं अपनी शक्तिसे रहनेवाले, अपनी शक्तिसे कार्य करनेवाले दूसरेपर अपना भार न रखनेवाले, स्वयंप्रभावी, स्वयंसिद्ध, समयपर अपनी योजना सिद्ध करनेवाले राजपुरुष उत्तम राज्यशासन कर सकेंगे । प्रत्येक राज्याधिकारीकी नियुक्ति करनेके समय उसमें ये गुण हैं वा नहीं इसकी परीक्षा करनी होगी । राजसभाके सदस्यों में भी ये गुण चाहिये । राजसभाके सभासदोंको चुननेवाले भी ऐसी परीक्षा करनेवाले होंगे ता ही वे उत्तम सदस्योंकी नियुक्ति कर सकेंगे । ऐसे चुनाव करनेवाले न हुए तो क्या होगा इसका विचार पाठक स्वयं विचार करके जान सकते हैं । चुननेवाले, जिनका चुनाव करना है, सदस्य, अधिकारी इन सबकी विशेष योग्यता होनी चाहिये । जिस स्थानपर उन्होंने बैठना है, जिस कार्यको करना है, उसको उत्तमसे उत्तम निभाने योग्य उत्तम गुण उनमें चाहिये, तब राज्य शासन उत्तम होगा, अन्यथा भ्रष्टाचार होनेमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

कवि, मनःसयमी, प्रभावी व स्वयंसिद्ध ये चार पद सदा ध्यानमें रखने योग्य हैं । ऐसे अधिकारी होने चाहिये, ऐसे कार्यकर्ता होने चाहिये और ऐसे राजसभाके सभासद होने चाहिये ।

चतुर्थ प्रकरण

विद्याका क्षेत्र (शिक्षा विभाग)

सुनतीसवों विद्वान् = 'आत्मज्ञान और प्रकृति विज्ञानका समन्वय।'

६९ अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ततमो य उ विद्याया रता ॥९॥

अन्धेराहुरिद्य गऽन्धेराहुरिग्रहा ।

इति शुश्रूष भावणा ये न स्वद्विचित्रभिरे ॥१०॥

विद्या चात्र ग च यस्तद्वेदोभय सह ।

आवद्यया मृत्यु तात्वा विद्याऽमृतमश्नुते ॥११॥

“ जो प्रकृति विज्ञानकी री कवल उपासना करते हैं वे अन्धकारमें जाते हैं, पर जो केवल आत्मज्ञानमें ही रमते हैं व समे भी अधिक अन्धकारमें पहुचते हैं ॥ आत्मज्ञानका फल भिन्न है और प्रकृतिविज्ञानका फल विभिन्न है ऐसा हमने उनसे सुना है कि जो उपदेश करने हैं ॥ आत्मज्ञान और प्रकृतिविज्ञान इन दोनों ज्ञानोंका समन्वय लाभकारी है ऐसा जो जानने हैं वे प्रकृत-विज्ञानसे दु खोंका दूर क'के आत्मज्ञानसे अमृत प्राप्त कर सकते हैं । ”

(२९) “ विद्या ” का अर्थ “आत्माकी विद्या ” और “ अ-विद्या ” का अर्थ ‘अनात्मा अर्थात् प्रकृतिकी विद्या ।’ आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या अथवा परमात्मज्ञानसे आत्मिक शान्ति मिलती है और भूतविद्या, प्रकृतविज्ञान अथवा विज्ञानम एहिक मुख्य साधन त्रिगुलतासे निर्माण किये जा सकते हैं अतः एहिक सुखाका शब्द भूतविद्या से होती है । इसलिये प्रकृति विज्ञान भी आवश्यक है और आत्मज्ञान भी आवश्यक है क्योंकि मनुष्यको ऐहिक सुख भी चाहिये और आत्मिक शान्ति भी चाहिये । इसलिये प्रकृति विज्ञान और आत्मज्ञान इन दोनोंका सामवेश र धर्म शिक्षामें होना चाहिये ।

[illegible]

मरता राम तर्जनी : रामचन्द्रजी तर्जनी दे दि के जतने राज्यें प्रत्यभिज्ञान कराईं जर्म छात्र तब जानाहुन मी पावै । इन तरः दोमें ज्ञान आकाशोप-
पदार्थमे मनस्वर होन्ते जगत्य होमति जान अग्रिमि श्रीः सिःकेह अथिह
मुखा होन्ते ।

कर्मधर्म

पौनर्वी विद्यालय- समाज और व्यक्तिता सह विद्युत

१० अण्डपगमा प्रविशन्ति चट्संभृतिमुपासत ।

तत्रा भूय इव त तमो य इ सभूत्वा जना ॥१९॥

काम्यं गच्छेत् सधर्मात्काम्यं गच्छेत्सधर्मात् ।

ज्ञानं तदधमं धीराणां ये नरस्तान्मयापदे ॥१३॥

समृद्धि च विद्यायां च यस्तद्व्याप्यं सदा ।

विनायकं स्वयं विष्णुं सम्भूष्यामुतामहनुते ॥ १४१ ॥

॥ जो देवता स्वर्गिणार १ कसलमा गरिने है व अन्ध बारीमा लागे है वर
जो देवता स्वर्गिणार १ रगत है व ति कसल जो वन कसलमा लागे है ॥
स्वर्गिणार १ वन मित्र है और स्वर्गिणार १ वन मित्र है देवता वन कसल
लागे है कि जो कसलमा गरिने है ॥ स्वर्गिणार और स्वर्गिणार वन

दोनोंका समन्वय लाभकारी है ऐसा जो जानने हैं वे व्यक्तिवादसे व्यक्ति के दुःख दूर करते हैं और समाजवादमे (सघटित होकर) अमरत्व प्राप्त करते हैं ॥ ”

(३०) “ असंभूति, असंभव, विनाश ” ये पद “ व्यक्ति स्वातन्त्र्यवाद ” के बाधक हैं और “ संभूत, संभव ” ये पद “ समाजवाद ” के बाधक हैं ।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समाजवाद ये दो पक्ष इस जगत्में प्रचलित हैं। व्यक्ति स्वातन्त्र्य बढ़ गया तो समाजका सघटना कम होती है और समाजवाद बढ़ गया तो व्यक्ति के लिये कुछ भी स्वातन्त्र्य नहीं रहता। इस तरह इनमें कुछ गुण और कुछ दोष हैं। जो व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहते हैं वे व्यक्ति की उन्नति करते हैं, पर वे समाजको सुसघटित और बलवान नहीं बना सकते। यह व्यक्ति स्वातन्त्र्यवाद का दुष्परिणाम है। इसी तरह जो समाजवादी हैं वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कम करते जाते हैं, इस कारण व्यक्ति दब जाती है और अवनत होती है व्यक्ति दब जानेसे उसका परिणाम अन्तमें समाजम दास भाव बढनमें होता है। इस तरह दोनोंमें कुछ गुण और कुछ दोष होते हैं। अतः जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवाद और समाज-सघटनावाद इन दोनोंका समन्वय करते हैं वे व्यक्ति स्वातन्त्र्यस होनबल लाभ प्राप्त करते हैं और समाज को सुसघटित करके बलवान भी बनाते हैं और समाजके साथ अमर हो जाते हैं क्योंकि व्यक्ति मरनवाला है और समाज ही अमर है।

इसलिये राज्य व्यवस्थामें समाजकी सघटना बढ़े और व्यक्तिको भी आवश्यक स्वातन्त्र्य मिल ऐसी योजना करनी चाहिये।

व्यक्तिको आवश्यक स्वातन्त्र्य मिलनसे वर्गिकता विनाश होगा और समाजकी सघटना हानने समाज भी बलवान बन जायगा। इस तरह समन्वयसे दोनोंका लाभ होगा और यह राष्ट्र विशेष प्रभाव पनेगा।

इत्युक्तं विद्वत् ॥ “सुखं मोक्षं त्वयसे सत्यधर्मका दृष्टम्”

११ द्विजप्रियं पादय सत्यधर्मादिना मुक्तम् ।

तत्रैव पुनश्चैव त्वयः सत्यधर्माय दृष्टम् ॥१२॥

“सुखं च पादय कर्मणः सुखं दृष्टम् ॥ हे पादय । कर्म कर्मदे दृष्टम्
मित्रे च । दृष्टम् तु दृष्टम् च (नार दृष्टम् दृष्टम् च) ।

(११) मित्रधीनं कर्मधर्मे सुखं च आप्यात से कर्म सत्यधर्मका
दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्म । ” । अत्रात्रात्रे कर्मच कर्मधी सुखं
दृष्टम् मित्रधीनं दृष्टम् सुखं दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका
दृष्टम् मित्रधीनं दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥

राज्यं व्यवहार्यं मित्रं अधिष्ठातृव्यं कर्मधर्माय सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं
कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं
कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥

ये च सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं
कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं
कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥

इत्युक्तं विद्वत् ॥ कर्मधर्माय कर्मधर्माय दृष्टम्

११ पुनश्चैव यम सूर्यं मायापत्य

दृष्टम् दृष्टम् सत्यधर्म ।

तत्रा यम कर्म कर्मधर्माय सत्यधर्मका दृष्टम् ।

यादृशमायसी पुनश्च सादृशमायसी ॥१२॥

“ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ।
कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं
कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं
कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥ हे द्विजप्रियं कर्म सत्यधर्मका दृष्टम् ॥

(३२) ईश्वर सबका पोषक, अद्वितीय ज्ञानी, सबका नियामक, तेजस्वी, सबका पालक है । उसके दो स्वरूप हैं ।

(द्वे चायं ब्रह्मणो रूपे) एक तेजोमय या अदृश्य स्वरूप है और दूसरा आन्तरिक कल्याणमय आनन्द स्वरूप है । एक प्रखर स्वरूप है और दूसरा शान्त व सौम्य है । यह स्वरूप साधक देखना चाहता है । यह साधक भगवान् जग प्राण जगद्गुरु सूर्य नागायगर्भे जो प्राण है उसी प्राणको धारण करनेवाला यही साधक हुकर स्वछा है । यही इस शान्त स्वरूपको देखना चाहता है ।

इसी तरह राष्ट्रके शासक केन्द्रमें देखिये । यह शासक राष्ट्रका पालन पोषण करता है, अद्वितीय ज्ञानी इस शासनका कार्य करते हैं, वे ही सब शासक संस्थाका नियंत्रण करते हैं । वे ही सबको प्रेरणा करते हैं और संचालन करते हैं । इन संस्थाके दो विभाग हैं एक बाहरका चमकीला विभाग है, इसमें सैनिक, अधिकारी, सरक्षकदल, राजसभा, काग्रह, दण्ड, घोषणा आदि चमकनेवाला एक भाग है । इसमें दिखावा है, भय है, चमकाहट है । आखिरे चकाचींध होती है इसके दिखावसे । इस दिखावेको एक और करके दूसरा जो राज्यशासनका गुप्त कल्याणमय भाग है वह कितना प्रभावी है वह देखना चाहिये । इससे प्रजाका सच्चा आत्मिक कल्याण कितना हो रहा है, सुख आराम आनन्द और शान्ति कितनी प्रजाको मिल रही है इसका निश्चय करना चाहिये । प्रजाका सच्चा हित कितना हो रहा है वह देखनेसे और विचार करनेसे इसका पता लग जाता है । बाहरका दिखावा दूर करना और अन्दरको शान्तिका पता लगानेसे इस शान्त स्वरूपका पता लग जाता है । यही राज्य शासनमें देखने योग्य बात है ।

मानवोंकी अवश्यकताएँ मानवोंको मिलनी हैं या नहीं, मानवताका मूल्य बढ़ रहा है या घट रहा है मानवोंमें शान्ति व आनन्द बढ़ रहा है या घट रहा है इसका विचार करनेसे आन्तरिक स्वरूपका पता लग सकता है । राज्यशासनका

कल्याणकर नाम स्वयं यह है । यह टीके स्वयंसे यह कहना ही निवार
करना थोड़े ।

[illegible]

Tested Programs

* प्रायः जमन मौनं संभवान्त एवम्

११. वायुशानममसुर्ग

स ५५ सम्माननं वारीयम् ।

“ प्रायः अक्षरविषय ज्ञाप्ता है और वह सटीक ज्ञान होमिचलन है । ”

(११) मन्त्र कर्तारके जो ज्ञान है वह भाव स्वरूप है जो मन्त्र होनेवाला है और स्वरूप वह भाव है जो अप्रत्यक्ष अमन्त्र भाव है। कर्तार-इतिहास ज्ञान वह होनेवाला भाव है, और भाव-बुद्धि-आत्मा वह अप्रत्यक्ष अमन्त्र भावमान भाव है। इनद्विने अर्थात् करने कर्तारकी तथा आत्माद्विने अर्थात् करने करने अमन्त्रिकान् विद्यालयकी सेवा करना चाहिये। अर्थात् अमन्त्रिकी सेवा करनेके लिये है। अमन्त्र कर्तार अमन्त्र इस निम्न प्रकारसे अमन्त्र कर्तार चाहिये। इन्होंने अमन्त्र नहीं होता चाहिये। कर्तार ईश्वरी एवम् ही जो अमन्त्र भाव वह

मत्स्य होगा और यदि उससे विश्वसेवाके कार्य लिये तो भी वह विनष्ट होता न
मत्स्य होगा ही। इसलिये उसमें विश्वसेवा जितनी अधिक हो सकती है उतनी
लेना ही उचित है। इसीसे जीवितका सार्थक होना समभव है। जीवनका परम
कल्याण समष्टिकी सेवासे ही है।

चौतीसवाँ सिद्धान्त="कृत कर्मका स्मरण"

३४ ॐ कृतो स्मर कृतः स्मर

कृतो स्मर, कृतः स्मर ॥ १७ ॥

"हे कर्म करनेवाले साधक। ॐ स्मरका स्मरण कर, क्या किया है उसका
स्मरण कर, हे कर्म करनेवाले साधक। जो पूर्व समयमें किया है उसका स्मरण
कर।"

(३४) मनुष्य कर्म करनेका अधिकारी है, इसलिये उसका नाम 'कृतु' है।
सब मनुष्य कर्म करते हैं, इसलिये सब कृतु कहलाते हैं। मनुष्य शुभ कर्म न
करेगा तो अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट हुआ ऐसा समझा जायिye। इस मनुष्यको
'ॐ' कारका स्मरण करना चाहिये। ओंकारमें 'अ-उ-न' ये तीन अवस्थाएँ
हैं। 'अ' (जाग्रति या सूक्ष्म), 'उ' (मध्यस्थिति, स्वप्न या सूक्ष्म),
और 'न' (बौद्धिक, आत्मिक, सुषुप्त अवस्था) दर्शायी जाती है। इन तीनों
अवस्थाओंपर राज्यशासनका परिणाम क्या हो रहा है, अर्थात् राज्यशासनसे
इनमें उन्नति होती है या अवनति होती है, इनमें शान्ति होती है अथवा
घबराहट होती है यह देखना चाहिये। मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि
मैंने जो भूतकालमें कार्य किया उसका क्या परिणाम हुआ और आज जो मैं
कर रहा हूँ उसका परिणाम भविष्यमें क्या होगा। इसी तरह राज्यप्रबंधके
विषयमें भी देखना और अपनेद्वारा सुयोग्य कर्म होते रहें ऐसा प्रबंध करना
योग्य है।

पैंतीसवाँ सिद्धान्त="मार्गकी शुद्धता"

३५ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्

'हे तेजस्वी प्रभो। हमें ऐश्वर्य प्राप्त होनेके लिये उत्तम मार्गसे ले जा।'

(१५) मनुष्योद्ये देवर्षे आहवे वरुण इह (सुपरा) काम सुख मार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये। इसी मनुष्य मार्गसे मन प्राप्त करना अशुभ नहीं है। येन मी सुख चाहिये और वरुणो यत्किंचिदपि मयि न भवति तावन् मी सुख चाहिये।
 उक्तार्थो विद्वान्—“कर्मोक्तो परोक्षतः”

३६ विश्वानि देव वपुनानि विद्वान्

हे प्रभो। तू सबके कर्म जानता है।

(१६) मनुष्योद्ये कर्म करने दे या हरे हैं इत्येव ज्ञान मनुष्यो निःस्वित् इत्येव हिते है।—

इसी तरह राजवशान्तर्गते मी न्यायाधीश द्वारा कौनोंके कर्मोंका निरीक्षण और परीक्षा करता चाहिये। जिनके कर्म अच्छे हैं उनका सम्भारण और जिनके हीन कर्म हैं उनका भक्षण स्वतः हो। इससे काम सुख कम करनेकी इच्छा मनमें बनेगी। कौनोंकी परीक्षासे मानवीय सब नीचता मिट होती रहे।

उक्तार्थो विद्वान्—“कुलपिताको दूर करना

३७ युयाध्वस्मज्जुहुराणमेत ।

इसके कुशिकता और पान प्रकृतार्थक हुए हुए हो।

(१७) मनुष्योद्ये को कुशिकता देनात्म वस्तु और पान आदि दौष ही जगको प्रकृत पूर्वक हुए करने चाहिये अन्यथा सुख काय कर बन्यो हुए बनाना चाहिये। ये दोष हुए ही एक जिनो प्रकृत हुए प्रकृत करना चाहिये।

राजवशान्तर्गते मी कुशिकता कर्म देनात्म प्रकृतार्थक, पान निःस्वित्, कर्मवशान्तर्गते आदि दौष प्रकृत पूर्वक हुए करने चाहिये।

उक्तार्थो विद्वान्—“इन्द्रको मार्ग

३८ मूषिर्हाते नमस्तर्जित विधेम ॥ १८ ॥

हे प्रभो। तुम्हें मैं नमन करता हूँ, (तेरी स्तुति करता हूँ)।

(१८) मातृपुत्र ईश्वरकी भक्ति करे, उने नमन करे, उसके गुणोंका वितन करे, उन गुणोंको अपने अन्दर धारण करे ।

राज्यशासनमें भी ईश्वरभाषिष्टे लिये स्थान चाहिये । ईश्वरके लिये नमन करना, ईश्वरके सन्तुष्ट नष्ट होकर अपना कर्तव्य करना चाहिये । ईश्वरको सदा अपने सन्तुष्ट देताकर अपना कर्तव्य सुयोग्य रीतिसे करना चाहिये ।

शान्ति मन्त्र

“यद् वदन् पूर्णं है, यद् विश्वं पूर्णं है, क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्मसे यह पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है । पूर्णसे जो उत्पन्न होता है यह पूर्ण ही होता है । उस पूर्ण ब्रह्मसे इस पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति होनेपर भी उस ब्रह्ममें कुछ भी न्यूनता नहीं हुई, यह वैसाही वैसाही पूर्ण रहा है ।”

व्यक्तिमें शान्ति हो, समाजमें शान्ति रहे और विश्वमें शान्ति स्थापन हो ।



भोरने घेर सक्ता है । ऐसे गुणोंमें युक्त राजा, अध्यक्ष तथा राज पुरुष होने चाहिये ।

२ राष्ट्रकी शिक्षा-प्रणाली

राष्ट्रकी शिक्षा प्रणालीमें (म० ९-११) प्राकृतिक विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान इन दोनोंका योग्य समन्वय किया जाय । केवल प्रकृत विज्ञान बढ़ गया, तो भोग विलास बढ़ेंगे व स्पर्धा बढ़नेसे कारण युद्ध बढ़ जायेंगे और केवल आध्यात्मिक ज्ञान हो राष्ट्रमें बढ़ गया तो ऐहिक अभ्युदयसी ओर दुर्लक्ष्य होगा, जिनसे ऐहिक सुखभा नहीं प्राप्त होगा । ये दोनों भय हैं । इनको दूर करने के लिये राष्ट्रीय शिक्षामें भौतिक और आत्मिक विद्याओंका समन्वय करना योग्य है । इनमें प्रजाजनोमें अभ्युदय और निधेयसत्ता सम विकास होगा और ऐहिक सुख और आत्मिक शान्ति प्रजाजनोको प्राप्त होगी । दोनों विद्याओंका समविकसन राष्ट्रमें करनेसे सबका लाभ है । इसलिये एक राष्ट्रव्यापी शिक्षाका नियोजन करना चाहिये ।

३ ध्येय और मार्गकी शुद्धता

(म० २) मनुष्योंको अनेक प्रकारके श्रेष्ठतम कर्म करने चाहिये । सर्वजनहित करनेका ही इनका उद्देश्य हो । इनसे सब जनोका धन ऐश्वर्य और सुख बढ़े । कोई दुःखी न रहे ।

(म० १८) जो धन प्राप्त करना है वह शुद्ध मार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये । ध्येय भी शुद्ध हो और मार्ग भी शुद्ध हो । अपवित्रता, पाप, घटाचार, कुटिलता आदि दोष न हों ।

राज्यव्यवस्थाने ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिससे कोई भी अपवित्र मार्गसे न जा सके ।

४ आर्य और अनार्यकी परीक्षा

प्रजाजनोमें गुणकर्म स्वभावसे आर्य कौन हैं और अनार्य कौन हैं, इसका

प्रत्यक्षीने पट्टीकर करण करीये। जगुठी और देवी कार्यते चीन चर रहा है
रगच निरीषः भी बह करे। इनको हुक् रकत और इनके अनिष्टार भी
रक होने चढ़ीये। २१ कार्यर चक्रेण्योसे निरीष चढ़िचिते रिद और
जगुठी कार्यते चक्रेण्यो र अनिष्ट निरन रवे और। (५ १)

समाज-व्यवस्था

५ समाज और व्यक्ति का संबंध

(अध्यात्म जगत् मे १) समाजके व्यापारे व्यक्ति रहती है। कोई
व्यक्ति समाजके बिना जोरित नहीं रह सकती। व्यक्ति रचनात मे १४)
मिद होनिकी है। मिदना भी कर मिद नाप ले व्यक्ति निरस्तभी ही
रह सकती। परन्तु समाज (संस्था समूह मे १२) बनर है। व्यक्ति
का मिदनेकी है। सं-मृति) चर करे र। समाजकी वृद्धिके निरे
कार्य अमलक है। (सं-मृति अध्यात्म त अर्थनमा प्रविष्टन।
मे १२) ये देव अर्थकः इह इह र। ये दे निरह हो गये हैं। रंर
(य संस्था रता त तना पुन) जो देव समाज संस्थाके मल होते
हैं वे वने भी अधिक अगत होते हैं। इकोमे (इय संस्था) व्यक्ति
कार्य और अर्थक इह होयेको अर्थनमा ये चक्रे हैं वे हीनका अर्थक
करे हैं और देविक अर्थो व्यक्तिकी प्रगति करे हैं और अर्थक संस्था
करे समाज और एकोसे अर्थनमा चक्रे बनर बनते हैं। (मे १२ १४)

६ त्याग और योग

(व्यक्तन मुक्तीका मे १) समाजके व्यापारे व्यक्ति रहती है।
इकोमे व्यक्ति करने कोयेको अर्थनमा निरे अर्थन हो, करने कोयेको अर्थन-
रिताके निरे चक्रे और देव चक्रे करे को अर्थनमा (देव अर्थक करने
निरे अर्थक करे। (या पुन) अर्थक न करे। अर्थनमा इह चक्रे हैं।

(कस्यस्वित् धनं) प्रजापतिका प्रजापालनमें व्यय करनेके लिये सब धन है जो धन यहां है उसका उपयोग सब प्रजाजनोंकी उत्तम पालना करनेके लिये होना चाहिये। धन किसी व्यक्तिसा नहीं है, व्यक्ति धनकी विश्वस्तर सकता है।

(म० १५) सुवर्णसे सत्य ढक जाता है। सुवर्णके लोभने जगत्में अनर्थ होते और दुःख बढ़ जाते हैं। इसलिये सुवर्णका प्रलोभन दूर करना चाहिये और सत्यका दर्शन करना चाहिये। सत्य नित्य मागदर्शन करता रहे।

अपापिद्धः (म० ८) पापका आचरण कोई न करे। (शुद्ध) शुद्ध और पवित्र आचरण करे।

७ राज्यशासन कैसा हो ?

(म० ५) राज्यशासनद्वारा प्रजाजनोंकी उन्नतिही सब योजनाओंको प्रेरणा मिलती रहे, परंतु राज्यशासन स्वयं कभी चञ्चल तथा अस्थिर न हो। वह केन्द्रमें तथा बाहर एक जैसा प्रभावी रहे। वह जैसा समीप वैसा ही दूर बना। तथा कार्यक्षम रहे। (म० ६) सब प्रजाजन उसकी सहायतासे उन्नत होने रहें, तथा सब प्रजाजनोंमें उस राज्यशासनके विषयमें आदरका स्थान रहे। (म० ७) सर्व प्रजाजन तथा राज्यक शासक इनका एकात्मता रहे। इनमें कभी विरोध न हो। प्रजा और राज्यशासक इनमें पूर्णरूपसे अविरोध रहे। (म० ८) राज्यशासन। धावन् अन्यान् अत्यन्ते। दौड़नेवाले अन्य शत्रुओंसे भी अधिक वेगवान् हो, अर्थात् अन्य शत्रु जितने वेगसे गति करते हैं उससे अधिक वेगसे अपनी प्रगति हो। शत्रु या गुण्ड जितने वेगसे कार्य करेंगे उससे अधिक वेगसे राज्यशासक उन अपराधियोंको पकड़नेमें सदा दक्ष रहें। जितनी प्रगति अन्य लोग कर सकते हैं उससे अधिक प्रगति अपने राज्यशासक करते रहें। कदापि गुण्डोंके पास अधिक वेगके साधन न हों, उनसे अधिक वेग अपने राज्यशासकोंका हो। अर्थात् वे अन्य लोग अपने शासकोंके सन्मुख कुण्ठित गति हो जावें।

अर्थान् इत्युक्तान् शास्त्रानीत्याः समाख्याः (मं ८)

समस्त राजेशास्त्री अर्थशास्त्रात् अर्थे राज्ञे मुक्त यो भव ।

एतद्व्याख्यान ऐश्वर्य नगर हो कि किसी कोइ प्रदे अर्थिक तथा समाजकी व्यवस्था करने होती वह नगर किसी तरह का नहीं है । अर्थिक शांति और एतद्व्याख्यान से राजमें सुख सुख और परस्पर मित्रोकी न रहे, परंतु इन्हें उत्तराख्यान ही किन्हीं लोगोंके अन्तर्गत आमो होना रहे । अर्थिक व्यवस्था करने ही और अर्थिक शांति भी रहे इसी योजना एतद्व्याख्यानके द्वारा होनी चाहिये । एतद्व्याख्यानका अर्थ ऐसा हो कि किसी व्यक्ति और ईश्वर दोनों स्वतंत्र होले रहें ।

राज्याशासन प्रवर्धनी और अर्थिक व्यवस्था वह कोइसे मुक्तोके मुक्त्यर्थे न रहे । इसी तरह एतद्व्याख्यानका अर्थ मुक्तोत्तर प्रवर्धनी और से मुक्त्यर्थ न रहे, इसी से रहे हैं अर्थिक एवं अर्थिक सुख प्राप्त ।

८ राज्याशासन आरम्भ

एतद्व्याख्यानके आरम्भका अर्थ अर्थिक व्यवस्था और शांति का अर्थिक व्यवस्था रहे । अर्थिक व्यवस्था और शांति का अर्थिक व्यवस्था रहे । (मं ९)

इस तरह ईश्वरमित्राने एतद्व्याख्यानकी व्यवस्था बतायी है और यह एतद्व्याख्यानके अर्थिक व्यवस्था है । अर्थिक व्यवस्था और शांति का अर्थिक व्यवस्था रहे ।

अर्थिक व्यवस्था ही अर्थिक व्यवस्था ही अर्थिक व्यवस्था और शांति ही अर्थिक व्यवस्था है ।

बहुपाय्य-स्वराज्य-पक्षकी घोषणा

(वेद तथा उगनिषदादि भारतीय अध्यात्म शास्त्रके ग्रन्थोंमें प्रतिपादित चिर-स्थायी अध्यात्मनन्वोंपर आधिष्ठित एक उत्तम ' बहुपाय्य-स्वराज्य-व्यवस्था ' है । इस तरहकी स्वराज्य व्यवस्था अपने देशमें स्थापित करनेके लिये एक पक्ष कार्य कर रहा है, ऐसा मानकर, वह स्वराज्यपक्ष अपने पक्षकी घोषणा वैदिक सिद्धान्तोंके आधारपर किस तरह करेगा, इसका घोषणामें कौनसे विशेष तत्व होंगे, इसकी चिन्ता विचारशील व्यक्तियोंके मनमें उत्पन्न होता है । इसलिये विशेषतः ईशोपनिषद्के अनुसार साथ साथ भगवद्गीताका सहारा लेकर भी " बहुपाय्य-स्वराज्य-पक्षकी घोषणा " यहाँ हम प्रस्तुत करते हैं ।)

हमारी घोषणा

हमारा " बहुपाय्य-स्वराज्य-पक्ष " ऋषिकलमें स्थापित हुआ और हमारे पक्षने उसी समय यह घोषणा प्रकाशित की—

१— हमारा ध्येय

हमारे पक्षका ध्येय (शान्तिः शान्तिः शान्तिः) ' विश्वमें त्रिग-स्थायी शान्ति स्थापित करना ' है । इन साध्यको सिद्ध करनेके लिये हम सबसे प्रथम अपने भारतीय समाजमें तथा भारत राष्ट्रमें स्थायी शान्ति स्थापित करेंगे और इसका प्रारम्भ एक एक व्यक्तिके अन्तःकरणमें समत्वपूर्ण एकत्वताका भाव प्रस्थापित करनेसे होगा । इसीकी सिद्धिके लिये हम अपने राष्ट्रमें आध्यात्मिक तत्त्वोंपर आधिष्ठित * बहुपाय्य-स्वराज्य-शासन शुरू करना चाहते हैं क्योंकि सुयोग्य स्वराज्य शासन अपने हाथमें रहे बिना न तो हम राष्ट्रमें शान्ति स्थापन कर सकेंगे और नही व्यक्तिमें एकात्मता स्थापन कर सकेंगे फिर विश्वमें शान्ति स्थापन करना तो दूर की बात है ।

* बहुपाय्य स्वराज्ये (ऋ ५।६।६ रातहव्य आत्रेय ऋषिकी घोषणा)

१— यह विश्व पूर्ण है

हमारे बहुतायत-सामग्र्य-मध्यम मस्तक यह है कि यह विश्व कैसा अच्छे से सन्तुष्ट है। सन्तुष्टता के सब कारणों से परिपूर्ण है, इस विश्व में किसी तरह की मृत्यु नहीं है। (पूर्व अर्ध पूर्ण इत्यम्) क्योंकि यह पूर्ण विश्व पूर्ण परमेश्वर का बना हुआ है। इस कारण यह पूर्णतः पूर्ण है। इसमें किसी तरह की मृत्यु नहीं है। इस शासन से ही हमने अपनी व्यक्तिगत संतुष्टता का अनुभव किया है। शेष मनुष्य की संतोष शासन में होता है। इससे हम एक बात कहेंगे और अपने समाज में ऐसे अनुशासन में से आनेगे कि जिस अनुशासन में रहे मनुष्य सन्तुष्ट हो नहीं पाएँगे, बल्कि प्रकट करने पर भी यदि शेष होना तो हमसे कम हो सकेगा। इस हेतु ही सिद्धि के लिये हम अनुशासन में अपने-आप सन्तुष्ट बनने लगे। यह हमारा सबसे पहला कर्म होगा।

१ प्रशासन शांतिवादी शासन का नाम

(ईशा एव इह सर्वं वा यम्) जिसमें प्रशासन करने की शक्ति होती नहीं है वह शासन में ठीक तरह का शासन कार्य कर सकता है। इससे हम अपने शासन में अपने शासन में शासन अच्छी तरह से अनुशासन और शासन सुव्यवस्था बनाएँगे; जिससे अपने समाज में प्रशासन करने की शक्ति बनेगी और अनुशासन में रहकर अपना कर्तव्य करने का उत्तम उद्यम हम सब को मिलेगा।

२— व्यक्ति और समाज का संघर्ष

(अगत्या अगत्या) समाज के आचार से व्यक्ति उत्पन्न है। व्यक्ति समाज के आचार से बना नहीं है वह उत्पन्न है। इससे हमारा ध्यान यह होना कि अपना समाज अच्छी तरह सुव्यवस्था हो और व्यक्ति को समाज के संघर्ष की बहाली के लिये तथा सेवा करने के लिये अनुशासन बना दिया जाए। व्यक्ति को अपना एक धर्म बन समाज के परम अधिकारी करने के लिये समर्पण करना होगा। हमारे राज्य में एक शासन की परम अधिकारी के लिये ही रहेगी। समाज की परम

उन्नतिके विरोधमें व्याक्ति खड़ी न रह सकेगी । व्यक्तिकी शक्ति इसीलिये विकसित करनी है कि उससे समाज शक्ति ही परम उन्नतिको प्राप्त हो ।

५— त्यागसे भोग

(त्यक्तेन भुञ्जीथाः) हमारे राज्यशासनमें व्यक्ति समाजकी परम उन्नतिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करेगी और समाज प्रत्येक व्यक्तिकी सब परम आवश्यकताओंके लिये आवश्यक भोग साधन देता रहेगा । किसी व्यक्तिको अपने योगक्षेमकी चिन्ता नहीं रहेगी (तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहामि) क्योंकि अनुशासनमें रहकर समाजकी सेवा करनेवालोंके योगक्षेमके लिये हमारे राज्यशासनमें राज्यशासन ही उत्तरदायी रहेगा ।

६— लाभका त्याग

(मा गृधः) प्रत्येक व्यक्तिको उचित है कि वह सब प्रकारका लोभ छोड़ देवे । हमारे राज्यप्रबन्धसे ही राष्ट्र-सेवा करनेवालोंकी सब योग्य आवश्यकताओंको पूर्ण किया जाएगा । हमारे राज्यशासनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने योगक्षेमकी चिन्तासे मुक्त रहेगी । प्रत्येक व्यक्तिको अनुशासनमें रहकर अपना नियत कर्तव्य उत्तम रीतिसे करना होगा ।

७— सब धन राष्ट्रका है

(कस्य प्रजापते स्वित् धनं) सब धन राष्ट्रका है और वह प्रजापालक संस्थाके पास रहेगा । सब धनका उपयोग प्रजाकी उत्तम पालनाके लिये ही होगा । यदि धन किसी व्यक्तिके पास हो तो वह उसका विश्वस्त रहेगा, स्वामी नहीं ।

८— कुशलतासे कर्म करना

(इह कर्माणि कुर्वन्नेव) यहाँ हमारे इस राज्यशासनमें प्रत्येक मनुष्यको अपने गुण, कर्म, स्वभाव, प्रवृत्ति तथा समाजकी आवश्यकताके अनुसार किसी न किसी सर्वजनहितकारी कर्ममें कौशल्य अवश्य प्राप्त करना होगा और यह कर्म उसे समाजकी परम उन्नति सिद्ध करनेके लिये करना होगा । योग्य

रंगे और भारतराष्ट्र की परम उन्नति करनेमें हमारे साथ रहे । हम निःसन्देह इस पद्धतिसे अपने राष्ट्र की परम उन्नति अल्प समयमें करके देना देंगे ।

१२-- आसुरी लोगों की पृथक् गणना

(असुर्या अन्धेन तमसा आवृता लोका , जो आसुरी शक्तिसे अज्ञानी गुप्ते लोक होंगे, यदि उन्होंने दैवी गन्मार्ग का आचरण स्वीकार न किया तो उसी अमरार्गमें गणना की जाएगी और वे हैं नागरिकत्वके अधिकार न रहेंगे, जो कि मुगमार्गके लोगोंसे होंगे । उनसे भिन्न उन्नति का मार्ग गुप्त रहेगा । परन्तु जो अमरार्गमें रहेंगे वे नागरिक नहीं माने जाएंगे । अतः उचित यह है कि सब जनता गुरार्ग का रहन सहन स्वीकार करें । हमारे राज्यशासनमें किसीसे भी उन्नति करने के लिये प्रतिबन्ध नहीं होगा । सदा सर्वदा उन्नतिके द्वार सबके लिये खुले रहेंगे ।

१३-- न डरनेवाला शासन

हमारा राज्यशासन एक जैसा सबके लिये समान निर्भयशक्तिसे चलता रहेगा । किसीके डरसे या अन्य प्रलोभनके कारणसे उसमें (अनेजत्) परिवर्तन न होगा ।

१४-- अद्वितीय शासन

(एक) हमारा राज्यशासन अद्वितीय होगा, क्योंकि इसका एक ही ध्येय है और वह है भारतराज्य की सर्वोच्च परम वैभवशाली चनाना । हमारे पक्षके सब व्यवहार इस एकाग्र ध्येयके लिये साधक होते रहेंगे । किसीकी इस विषयकी सूचना विचारणीय सिद्ध होनेपर हम उसे अवश्य स्वीकार करेंगे ।

१५-- मनसे भी चगमान

(मनस जगीय) हमारे राज्यशासनके सब अधिकारी ऐसे चुने होंगे कि जिनके मनका वेग बहुत होगा । जो स्फूर्तिवाले होंगे और निरुत्साह का नाम भी उनके पास न होगा । क्योंकि तभी भारत में शासन का कार्य पूर्णतः निर्दोष होगा ।

१६-- अन्योक्त अधिकारके स्थान नहीं मिलेंगे

(न अन्ये एनत् आप्नुवन्) कोई दूसरे विदेशी या सदा परकीय

सुनिचे राजेवाले-हमारे इस अध्यात्म-अभिहित इस सर्वार्थपूर्ण राज्यशासनके अधिपतोंको प्राप्त न कर सकेंगे । अर्थात् जो मारतको अपनी मरुतिवृष्टिमें नहीं मगल दे अन्य कोय इस राज्यशासनके अधिपतों परंपर नहीं रखे बाकी सभी ठर । बाधेधारीयोंको राज्यशासन विहाल करनेका अधिकार नहीं रहेगा ।

१०- गुणवैशेषको धारणेका सामर्थ्य

(पावनः प्रम्यान् प्रभवति) गुणवैशेषमें भी तेज राजेवाले बरि हर कम भी हस्तरे इस राज्यशासनके अधिपतों इनको बेरख पकड़नेका सामर्थ्य रखेंगे । इसलिये हमारे राज्यशासनमें एक प्रथम सभी वांछितका अनुमान कैसा रहेगी । अतः सब प्रयासन हमारे पक्षमें आकार और उत्तम राज्यशासनके आयी बने ।

१८- स्थायी शासन

(विद्युत्) हमारा राज्यशासन बलवत् नहीं होगा तथा बाध इस एक एका परबो लोभ्य एका नहीं होगा । किन्तु एक अधिपतोंकी इच्छासुधार प्रकट नहीं रहेगा । अर्थात् स्थिर शासनव्यवस्थाके कानि विधानके अनुसार स्थिर समर्थ बलवत् रहेगा । बाधवत् प्रचारक विने यह बाधवत् भी रहेगा ।

१९ -कर्मोंकी धारणा

(अथ दृष्टवति) हमारे राज्यशासनमें इनके कर्मोंका धारण होगा । धारणाके विने कोय काम मिलेगा । काम करनेपर यह धर्म नहीं बाधवत् । विने कामका कोय बल कर्मोंकी मिलेगा । विने कर्म कभी विगल न होंगे ।

२०-विश्वर रक्षक बलसाह प्रदान करना

(तदेवमिति तर्हि इति) हमारा राज्यशासन सर्वविशेषोंको कोयकोय देना परन्तु सर्व अपनी अनुशासनपूर्ण परिश्रम गतिपर सुस्थिर रहेगा । सर्व कर्मक न होय हुआ एकाधिको गुण मार्गपर बलवत् रहेगा ।

२१-सभीय और दूर रहमपर भी समान

(तत्पूरे समन्वितके) हमारा राज्यशासन कैसा कैसा में बलवत् होगा कैसा

हा सुभूत स्थानमें भी प्रभावी होगा । अधिकारियोंकी दूरता और समीपतासे प्रभुमें प्रभुताधिकता नहीं होगी ।

११-शासन और शास्यकी सहकारिता

(ईदा सवभूतानि, सर्वभूतेषु ईशः) हमारे राज्यशासनमें सब भूभाग । ध्यानन्दसे रहेंगे और सब जनतामें राज्यशासनके तथा राजपुरुषोंके नियमों का प्रसार रहेगा । शासक और शास्योंमें पूर्ण सामञ्जस्य रहेगा । इसलिये यहाँ कि लीको किरा गी निन्दा करीफा अवसर ही न मिलेगा । राज्यशासन पूर्णतया सार्थक । दित करीके लिये चलाया जाएगा । और इसका ज्ञान प्रजाके रहेगा । इसलिये विरोधी भाव ही उत्पन्न न होगा ।

१२-एकात्मकताका अनुभव

(सर्वाणि भूतानि आत्मा-ईश-एव अभूत्) सब प्रजाजन ही जहाँ राज्यशासक रहेंगे, जहाँ शासित और शासकमें एकात्मता होगी वहाँ कोई किसीका प्रेष नहीं करेगा । ऐसा ही हमारा यह राज्यशासन होगा ।

१३-शरीर घण-रोगादि दोषरहित रहेगा

(अक्राय, अव्रणं, अस्त्राघर) हमारा राज्यशासन कित्तिके शरीर-दोष, घण या रोगादिके कारण बंद नहीं रहेगा । शारीरिक दोषोंसे हमारे राज्यशासनमें घुटी नहीं रहेगी । हमारा राज्यशासन, बल और सामर्थ्यपूर्वक यथा-शोभ्य रीतिसे चलाया जायेगा ।

१४-शुद्ध और पापरहित

(शुद्ध अगाधेन्द्र) हमारा राज्यशासन सदा शुद्ध रहेगा और पापाचार आदि दोषोंसे रहित होगा । भ्रष्टाचार, कालाबाजार, रिश्वतखोरी आदि दोष यहाँ नहीं होंगे ।

१५-ज्ञानी और संयमी शासक होंगे

(कविः मनोमी परिभू स्वयम्भूः) हमारे राज्यशासनके चलानेवाले अधिकारी ज्ञानी, करी, निष्ठ, अतीन्द्रियदर्शी, मननशील, मन संयमी, इन्द्रिय-

लिये सुवर्णके प्रलोभनको दूर किया जायेगा। हमारे राज्यशासनमें सुवर्णके प्रलोभनसे कोई सत्यको नहीं दबा सकेगा। इसलिये लोगोंको किसी तरह भी सत्य व्यवहार करनेमें कोई कष्ट न होगा।

३१— कल्याणस्वरूपका दर्शन

(पूषन् एक ऋगे यम सूर्य प्राजापत्य) हमारे राज्यशासनमें प्रजाका पोषण करने, ज्ञानदान देने, दुष्टोंका नियमन करने, प्रजाको सत्यमार्गका दर्शन कराने, प्रजाका योग्य पालन करने आदि कार्य निर्दोषताके साथ होते रहेंगे। इससे अधिकसे अधिक प्रजाका कल्याण हो रहा है या नहीं (कल्याणतम रूप पश्यामि) इसका निरीक्षण प्रत्येक व्यक्ति करता रहे, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भारतीय शासक सस्थाका एक भाग है। अतः उसको इसके निरीक्षणका अधिकार है।

३२— अमर प्राण और नाशवान् शरीर

(भस्मान्त शरीरम्) मनुष्यका शरीर भस्म होनेवाला है और उसका (घायु अमृत) प्राण अमर है। इसलिये हमारे राज्यशासनमें प्रजाके शरीर दीर्घायु और दीर्घजीवी करने का पूर्ण यत्न किया जाएगा, पर साथ साथ मनुष्यमें जो अमर अमृतमय भाग है उसका भी प्रकाश अधिकधिक होता रहेगा। ऐसी राष्ट्रीय शिक्षाकी व्यवस्था की जाएगी, जिससे ऐहिक उत्थितिके साथ आत्मिक शान्तिका भी यहाँ लाभ होगा।

३३— सिंहावलोकन

(कृत स्मर) किये हुए कार्यका परिणाम क्या हुआ, वह योग्य हुआ या नहीं, उसमें क्या सुधार करने चाहिए आदिका निरीक्षण करनेकी व्यवस्था हमारे राज्यशासनमें नियत समयके बाद होगी। सुयोग्य विद्वान् इस समितिमें रहेंगे और इनका जो निर्णय होगा, तदनुसार राज्यशासन-पद्धतिमें सुधार होगा। यह सुधार राष्ट्रसभाके निश्चयानुसार होगा।

१४—साध्य और साधनकी शुद्धता

(सुपथा राये मय) हमारे राज्यशासनमें रहकर सब लोग काम कुछ करने लगकर व्यवहार कर सके। यही सबको साम्य और साधन तथा मार्गकी पवित्रता रखनी होगी। जो इस तरहकी शुद्धि नहीं रखेगा वे राज्यकी समझे नहीं।

१५—कर्मोंकी परीक्षा

(विभ्रानि बहुला न विद्वान्) इनके कर्मोंका निष्पन्न परीक्षण हमारे राज्यशासनमें होता रहना। मनुष्य कुछ और समझाये व्यवहार करते हैं या नहीं, सबका ज्ञानकार कर रहे हैं, इसका निम्न सुमेव्य व्यावहारिक निष्पन्न होकर रहे। इसका परिणाम कर्माको मापना पड़ेगा। हमारे राज्यशासनमें किसी अपराध काम नहीं होने लगे।

१६—कृटिकता और पापसे मुक्त

(सुदुराये एताः पुपोधि) यही कृटिकता ज्ञानकार और पाप होने का सबसे बड़ा कारण है। हमारे राज्यमें पवित्रमानके व्यवहार करनेवाले ही व्यवहार रहे और सब लगे। पापिकों और ज्ञानकारियोंको पुत्र दिया जाएगा। हमारे राज्यमें इस निषेधको कभी पड़ना नहीं होगा।

१७—ईश्वरकी भाक्ति

(भूयिष्ठा नय डार्कि विधम) हमारे राज्यशासनमें परमेश्वरकी भाक्ति करनेके लिये योग्य स्थान बनाने होंगे। ईश्वर-स्तुति प्राप्ति उपलब्धि भाक्ति सब भावि जो ईश्वरभाक्तिमें मिलेगी होगी वे व्यक्तिगत और संपन्न। हमारे राज्यमें होगी रहेगी। इनके व्यक्तिगत कर्मकारकी भाक्ति रहेगी और भाक्तिगत भी रहेगा। निरीश्वरकारकी भी स्थान नहीं रहेगा। क्योंकि ईश्वर भाक्ति से ही इस पुरुषार्थ प्राप्त हुआ है। अतः ईश्वरके लिये नहीं तथा भेद स्थान रहेगा। हमारा राज्यशासन ईश्वरके गुणोंकी भाक्तिगत हुआ है। इसलिये ईश्वर भाक्ति नहीं बनाने नहीं है।

सब सुखी हों,

सब नीरोग हों,

सबको कल्याण प्राप्त हो,

किसीको दुःख न हो ।

(यह आध्यात्मिक-बहुपात्र्य-स्वराज्य-पक्षकी घोषणा है । यह वेदके समान प्राचीन है तथापि यह आज नवीन जैसी भी है । यह ऋषियोंकी घोषणा है । इसीसे सबका कल्याण होगा) ।

सूचना — यह ' बहुपात्र्य-स्वराज्य-पक्ष ' की घोषणा ' ईशोपनिषद् ' के वचनोंपर रची गई है । पाठक इसका मनन और विचार करें ।

वेदमन्त्रोंमें जो सूचनार्यें मिलती हैं, उनका समावेश इस घोषणामें करनेसे यह घोषणा कभी न कभी परिपूर्ण हो सकती है । आज यह केवल ईशोपनिषद् के ही वचनोंके आधारपर रची है । ईशोपनिषद्के वचन क्रमपूर्वक लिये हैं । काचित् शब्दोंमें थोड़ासा हेरफेर भी किया है, जो अर्थज्ञानके लिये आवश्यक है ।

वेदमें जो ईश्वरका वर्णन है, वही मर्यादित स्वरूपमें राज्यशासकका वर्णन होता है और उन वचनोंसे राज्यशासनके नियमोंका भी ज्ञान होता है । इस दृष्टिसे पाठक इस घोषणाका विचार करें ।

विश्वशान्ति सत्त्वर स्थापित हो ।

आत्मज्ञान

ईशोपनिषद्

विषय-सूची

पृष्ठ

पृष्ठ

पञ्चवेद व्यापार आधीसूची भूमिका	१
(१) पञ्चवेदकी ऐतिहासिकता	५
(२) व्यापारका नाम	४
(३) इस सूचीके हेतु	५
(४) अनेक भाषाओं में एक तत्त्वका वर्णन	६
(५) इस व्यापारका अर्थ	६
(६) इस उपनिषद्का महत्त्व	१
(७) इस व्यापारकी लक्षणा	५
(८) व्यापारकी लक्षण	१५
(९) वेदान्तके आधारका नाम	१६
(१०) विषय-सूची	१९
(११) ज्ञान और कर्मके सम्बन्धका सूचक हेतु	११
(१२) इस व्यापारके बारे में आत्म-व्यापक कर्तव्यका विचार	१३
(१३) इस व्यापारके विवेकानामिका पञ्चम संस्करण	१५
(१४) आत्मज्ञानकी आवश्यकता	११
(१५) विद्या और अविद्या	१२
(१६) संसृति और असंसृति	१७
(१७) ईश्वर और व्यक्तित्व	४१
(१८) एकलक्ष्य अनुभव	४४
(१९) आत्म	४५
पञ्चवेद-संहिता-पाठ (४ भाषाओं में अ ४ पृ.)	४७
आत्म-संहिता-पाठ (पुनः पञ्चवेदों में अ ४ पृ.)	५
ईशोपनिषद्का अर्थ-मन्त्र	५१

ईशोपनिषद् (आत्मज्ञान)

(१) आ मोक्षतिहा मार्ग	५५
(२) आत्मघातहा मार्ग	५९
(३) आत्मतत्त्वहा मार्ग	६१
(४) आत्माही ध्यापद्धति	६५
(५) सर्वत्र आत्मभाव	६६
(६) परमात्मामे गुण वर्णन	६७
(७) ज्ञानक्षेत्र	६८
(८) कर्मक्षेत्र	७१
(९) सत्यधर्मका दर्शन	७८
(१०) उपासना	८०
(११) आत्म-परिक्षा	८१
(१२) प्रथना	८३
परमेश्वरहा नाम-संकीर्तन	८५
परमेश्वरके वर्णनसे मनुष्यके प्रदूषण करनेयोग्य बोध	८८
सूचना	९३

ईशोपनिषद्में वर्णित मनुष्यकी उत्पत्तिका मार्ग

(१) मनुष्यहा साध्य	९४
(२) साधन	९५
(३) कर्ममार्ग	९५
(४) आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र	९६
(५) आधिभौतिक कार्यक्षेत्र	९७
(६) आधिदैविक कार्यक्षेत्र	९७
(७) गति और अवस्था	९८
(८) कर्म, अकर्म और विचर्म	९८
(९) अमरत्व प्राप्तिहा मार्ग	९८
सत्यनिष्ठा, सिद्धावलोकन, वेदका आदेश	१०३

कर्मिषद्वा भाषार्थ (पञ्चमस्कन्ध)	१ ६
कर्मवृत्त	"
कर्म धर्म	१ ९
मिथेकम्प वरिहार	११
अधुर्ध्व ज्येष्ठ	११२
धर्मका भाषार	११४
अभिदेवता	११५
ईशापमिषद्दे मंत्रोक्ता तुल्यमात्मक विचार	११७
ईशापमिषद्दे कथास्तर	११७
ईशकृष्णार्थमें महाभारतमें	"
इह मन्त्रोक्तका एक धर्म	११८
ईशा उपनिषद् (अष्टादश-उत्पत्तिपर अविच्छिन्न एतद्व्यवस्थित)	११९
माहात्म्यक अष्टादश-उत्पत्तिपर अविच्छिन्न एतद्व्यवस्थित	
ईशा-उपनिषद्	१ ३
शुद्धि वरा उपाय ईशोपनिषद्दे नाम	१ ४
सामर्थ्यकी विद्या	१४५
अहं कर्मका ज्येष्ठ	१
इह विद्य पूर्ण है	१५२
कुम्भिकाद और कुम्भिकाद	१५३
विद्युत्कामि । ज्येष्ठ	१ ६
उत्पत्तिव्यवस्थी विद्या	१५७
ईशा-उपनिषद् (प्रथम प्रकरण)	१५९
प्रथम सिद्धान्त—	उत्पत्तिव्यवस्थित
द्वितीय "	उत्पत्तिव्यवस्थित
तृतीय "	उत्पत्तिव्यवस्थित
चतुर्थ "	उत्पत्तिव्यवस्थित
पञ्चम "	उत्पत्तिव्यवस्थित
षष्ठ "	उत्पत्तिव्यवस्थित
सप्तम "	उत्पत्तिव्यवस्थित

अष्टम सिद्धान्त—	‘ धृष्टाकी धारणा ’	१७३
नवम	„ ‘ अन्यमार्ग नहीं है ’	१
दशम	„ ‘ सत्कर्मका प्रभाव ’	१७४
दोनों मार्गोंकी तुलना		१७५

अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासनके तरय (वैयक्तिक तथा सामाजिक) १७७

ग्यारहवाँ सिद्धान्त—	‘ आत्मघातकी लोगोंकी अधोगति ’	१८०
----------------------	------------------------------	-----

(द्वितीय प्रकरण)

बारहवाँ सिद्धान्त—	‘ अ- सम्पन्शीलत्व ’	१८१
तेरहवाँ	„ — ‘ आद्वितीयत्व ’	१८२
चौदहवाँ	„ ‘ प्रगतिशीलत्व ’	१८३
पंद्रहवाँ	„ ‘ अनुलघनीयत्व ’	१८४
सोलहवाँ	„ ‘ प्राचीन परम्परापर आश्रित ’	१८५
सत्रहवाँ	„ ‘ स्फूर्तिशुक्ल ज्ञान-दान ’	१८६
अठारहवाँ	„ ‘ अन्याका अनाक्रमण ’	१८७
उन्नीसवाँ	„ ‘ सुशान्तिष्ठित स्वयं ’	१८८
बीसवाँ	„ ‘ कर्मोंकी धारणा ’	१८९
इक्कीसवाँ	„ ‘ स्थिर रहकर दूसरोंका संचालन ’	१९०
बाईसवाँ	„ ‘ दूर आर पास समान ’	१९१
तेईसवाँ	„ ‘ परस्परबलवित्त्व ’	१९२
चौबीसवाँ	„ ‘ एकात्म-प्रत्यय ’	१९३

(तृतीय प्रकरण)

पच्चीसवाँ सिद्धान्त—	‘ शारीरिक दोषोंसे विघ्न न हों ’	१९०
छ बीसवाँ	„ ‘ पवित्रता रहे ’	१९१
सत्त ईसवाँ	„ ‘ ज्ञाना और कर्तृत्वज्ञान राजपुरुष ’	१९२
अठ्ठाईसवाँ	„ ‘ यथायोग्य स्थायी अर्थ व्यवस्था ’	१९३

(चतुर्थ प्रकरण)

त्रिंशत्सेत्र	(शिक्षा विभाग)	१९४
---------------	------------------	-----

अवधीयों विद्वान्त—	आत्मज्ञान और प्रकृति विज्ञानका सम्बन्ध	११४
कर्मोद्देश		११५
तीनों विद्वान्त—	अमात्र और व्यक्तिगत एवं निश्चित	
दुर्धर्मान्त	दुर्धर्मान्तका अन्त्यसे उत्पन्न होने	११७
वर्तमान्त	वर्तमान्तकी वृद्धि	११
ऐतियान्त	प्रत्यक्ष कारण और सम्बन्ध	११९
वैतियान्त	ज्ञान कर्मका कारण	१
वैतियान्त	कार्यकी सुदृढता	
वैतियान्त	कर्मोंका पराक्रम	१ १
वैतियान्त	वृद्धिकारकी वृद्धि करना	
अवधीयान्त	ईश्वरकी मति	११
अवधि—अन्त		१ १

ईशोपनिषद्ने बताया है कि साक्षात्कारके लिये

(१) रामा और लक्ष्मीका नाम है ?

(२) रामा की शिक्षाप्रणाली

(३) धर्म और मार्ग १ सुदृढता

(४) धर्म और धर्मोंकी वृद्धि

(५) अमात्र—अवधि, अमात्र और व्यक्तिगत सम्बन्ध

(६) अमात्र और लक्ष्य

(७) अमात्र और लक्ष्य

(८) अमात्र और लक्ष्य

अमात्र—अवधि—अमात्र और लक्ष्य

(१) अमात्र और लक्ष्य

(२) अमात्र और लक्ष्य (३) अमात्र और लक्ष्य

(४) अमात्र और लक्ष्य

(५) अमात्र और लक्ष्य (६) अमात्र और लक्ष्य

(७) अमात्र और लक्ष्य (८) अमात्र और लक्ष्य

(९) सौ वर्षोंका पूर्ण आयुकी प्राप्ति	२११
(१०) कर्ताकी दोषसे मुक्ति, (११) दूसरा मार्ग नहीं है	"
(१२) आसुी लोगोकी पृथक् गणना, (१३) न डरनेवाला शासन	२१२
(१४) अद्वितीय शासन, (१५) मनसे भी वेगवान्	"
(१६) अन्योंको आधिकारके स्थान नहीं मिलेंगे	"
(१७) गुणोंको घेरनेका सामर्थ्य, (१८) स्थायी शासन	२१३
(१९) कर्मोंकी धारणा	"
(२०) स्थिर रक्षक ठा साह प्रदान करना	"
(२१) कर्मोंपर आर दूर रहनेपर भी समान शासन	"
(२२) शासन और शास्यकी सहकारिता	२१४
(२३) एकात्मकताका अनुभव	"
(२४) शरीर व्रण-रोगादि दोषरहित रहेगा	"
(२५) शुद्ध और पापरहित	"
(२६) ज्ञानी और सयमी शासक होंगे	"
(२७) शाश्वत अर्थ व्यवस्था	२१५
(२८) ज्ञान और विज्ञानका सहयोग	"
(२९) व्याक्ति और समाजका सहविकास	"
(३०) सत्यका दर्शन	"
(३१) कल्याण-स्वरूपका दर्शन	२१६
(३२) अमर प्राण और नाशवान् शरीर	"
(३३) निःशोकन	"
(३४) साध्य और साधनकी शुद्धता	२१७
(३५) कर्मोंकी परीक्षा	"
(३६) कुटिलता और पापसे शुद्ध	"
(३७) ईश्वरकी भक्ति	"

